

ISSN 2320-5601 Pairokar

पैरोकार

साहित्य, शिक्षा, कला व संस्कृति की त्रैमासिकी

वर्ष : 10 • अंक : 1-2 • (संयुक्तांक) जनवरी-जून, 2021 • RNI-WBHIN/2012/44200



वर्ष 10 • अंक 1-2 • जनवरी-जून 2021(संयुक्तांक)
अंतरराष्ट्रीय पीयर रिव्यूड पत्रिका

| |
|--|
| प्रधान संपादक : अनवर हुसैन |
| संपादकीय सलाहकार : डॉ. सुनील कुमार 'सुमन' |
| प्रबंध संपादक : मनोज कुमार |
| कार्यकारी संपादक : डॉ. मोहम्मद आसिफ आलम |
| सहायक संपादक : डॉ. ललित कुमार |
| पीयर रिव्यूड टीम : |
| प्रो. एमजे वारसी : अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी, अलीगढ़, |
| डॉ. श्रीधरम : आरएसडी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, |
| डॉ. संजय जायसवाल : विद्यासागर विश्वविद्यालय, |
| मेदिनीपुर, प. बंगाल, डॉ. उमा यादव : महात्मा गांधी केंद्रीय विश्वविद्यालय, मोतिहारी, डॉ. अनीश कुमार : द पर्सपेरिटिव इंटरनेशनल जर्नल ऑफ सोशल साइंस एंड ह्युमेनिटीज |
| संपादक मंडल : डॉ. विवेक साव, डॉ. श्रीनिवास सिंह यादव, डॉ. श्रीपर्णा तरफदार, डॉ. चक्रधर प्रधान, नारायण दास, बृजेश प्रसाद |
| अंतरराष्ट्रीय सदस्य: |
| डॉ. मोरवे रोशन के : यूनिवर्सिटी ऑफ लॉड्ज, पोलैंड और बांग्लार यूनिवर्सिटी, यूके |
| टाइप सेटिंग : रामजी पडित |

संपादकीय कार्यालय

स्वास्थ्यक अपार्टमेंट

हाइटेक कम्प्युनिकेशन्स एण्ड कन्सलटेन्ट्स
पीरतला, आगरपाड़ा, कोलकाता-700109

मोबाइल : 9831674489

E-mail ID - pairokarpublication@gmail.com

स्वत्वाधिकारी, प्रकाशक व मुद्रक रोजायदा खातून द्वारा स्वास्थ्यक अपार्टमेंट, पीरतला, आगरपाड़ा, कोलकाता-700109 से प्रकाशित व हाइटेक कम्प्युनिकेशन्स एण्ड कन्सलटेन्ट्स, पीरतला, आगरपाड़ा, कोलकाता-700109 से मुद्रित,

संपादक : रोजायदा खातून

पत्रिका मे प्रकाशित रचनाओं/लेखों की मौलिकता का दायित्व स्वयं रचनाकारों का है, उससे सम्पादक व प्रकाशक का सहमत होना आवश्यक नहीं है। किसी तरह का विवाद कोलकाता न्याय क्षेत्र के अधीन ही होगा।

विषय सूची

| | |
|---|----|
| संपादकीय | 2 |
| अफगानिस्तान संकट और वैश्विक मीडिया –डॉ. ललित कुमार | 4 |
| प्रकृति सौन्दर्य और केदारनाथ सिंह की कविता –डॉ. सुनीता दुरंगल | 8 |
| आदिवासी और उनके अधिकार का सवाल –संदीप कुमार यादव | 12 |
| 'गुरुदेव के अंग' के आधार पर शिक्षण प्रक्रिया की विवेचना –सुमित कुमार | 16 |
| नागफांस में फंसा जनजीवन और उसका यथार्थ –श्वेता बर्णवाल | 21 |
| ओमप्रकाश वाल्मीकि के साहित्य का समाजशास्त्रीय आलोचना का स्वरूप – नारायण दास | 25 |
| हिन्दी उपन्यास के उदय में नवजागरण का योगदान –नगीना लाल दास | 29 |
| भारत में अनुवाद या आत्मसातीकरण की परम्परा –पवन कुमार साव | 32 |
| नागार्जुन के उपन्यास में व्यक्त सामाजिक वैचारिकता (रत्नानाथ की चाची और बलचनमा के विशेष संदर्भ में) –डॉ. कलावती कुमारी | 35 |
| लोक संस्कृति के विविध स्वरूप और छठ-पूजा –डॉ. रमेश यादव | 38 |
| कहानी – पिंकी सिंह | 42 |
| गीत – अनवर हुसैन | 46 |

संपादन और प्रबंधन के सभी पद अवैतनिक

मूल्य एक प्रति- रु. 25/- वार्षिक सहयोग राशि- रु. 400/-

संस्थाओं के लिए : रु. 500/-, इस अंक का मूल्य रु. 50/-

संपादकीय

कहीं खत्म न हो जाए पुस्तक पढ़ने की संस्कृति!

अनवर हुसैन

पुस्तकों से बड़ा सच्चा मित्र कोई नहीं है। आज भी दिल को सुकून दिलाने वाली सबसे उत्तम साधन पुस्तक ही है। लेकिन आज की पीढ़ी ने जब अपना सुकून ही खो दिया है तो फिर उन्हें पुस्तक पढ़ने की जरूरत ही क्या है। महानगर से लेकर छोटे शहरों और अब गांव गांव तक में भी लोगों के हाथ-हाथ में स्मार्ट फोन आ गया है। युवाओं का तो अधिकांश समय मोबाइल पर ही बितता है। जो कुछ शिक्षित लोग पढ़ना चाहते हैं वे भी मोबाइल फोन पर ही अपनी रुचि की चीजें पढ़ ले रहे हैं। अकादमिक क्षेत्र के शिक्षाविद जरूर पुस्तकें खरीदते हैं लेकिन आज इंटरनेट के युग में पुस्तकें उनके अलमारी की शोभा बढ़ाने तक ही सीमित है। विडंबना तो है कि दसवीं और 12वीं के छात्र अपने पाठ्यक्रम की पुस्तकें भी पढ़ना नहीं चाहते। उन्हें परीक्षा पास करने के लिए इंटरनेट पर ही बहुत सारी सामग्री मिल जा रही है। अंग्रेजी के शब्द का अर्थ खोजने के लिए डिक्शनरी का पन्ना पलटना तो अब गुजरे जमाने की बात हो चली है। किसी को कोई शब्द का अर्थ चाहिए तो वह गुगल में सर्च कर पता कर लेता है। इस तरह स्मार्ट फोन से लेकर स्मार्ट टीवी तक में इंटरनेट की खपत तेजी से बढ़ रही है। भारत दुनिया में सबसे ज्यादा इंटरनेट और स्मार्ट फोन इस्तेमाल करने वाले देश में सुमार होने लगा है। विदेशी स्मार्टफोन, टीवी और गुगल जैसे सर्च इंजन के लिए भारत दुनिया का सबसे बड़ा बाजार में तब्दिल होने जा रहा है। देश के बाजार में हर दूसरा दुकान स्मार्टफोन और उससे संबंधित उपकरणों के लिए देखने को मिलने लगी है। अत्याधुनिक तकनीकी को अपनाना कोई बुरा नहीं है। समय और जमाने के साथ चलना ही चाहिए। लेकिन जिस ज्ञान के स्तंभ पर यह तकनीक खड़ी है उस स्तंभ की बुनियाद यानी पुस्तकों से मुंह मोड़ना कहां तक उचित है। विकसित देशों में तकनीक बहुत उन्नत है। उनकी तकनीक के साथ पुस्तकें भी जुड़ गई हैं। उनके पास ई-बुक अच्छे फार्मेट में उपलब्ध है जो अत्याधुनिक स्मार्ट फोन पर आसानी से पढ़ी जाती है। लेकिन हमारे यहां जब पुस्तक पढ़ने की संस्कृति पर ही संकट मंडराने लगा है तो फिर वह ई-बुक हो या पेपरबैक, उसका कोई महत्व नहीं है। किसी भी चीज का महत्व तब होता है जब वह प्रचल में हो। पुस्तक पढ़ने की संस्कृति जब प्रचलन में रहेगी तो उसका महत्व भी रहेगा। जहां पढ़ने की संस्कृति खत्म होने लगेगी वहां के समाज में पुस्तक का महत्व भी घटेगा। हमारे समाज में पुस्तक का महत्व घट रहा है इसमें कोई दो राय नहीं है। पुस्तकें नहीं पढ़ी जाएगी तो लेखक लिखेंगे नहीं और जब

लेखक लिखेंगी नहीं तो प्रकाश छापेंगे भी नहीं। फिर भी लेखक लिखता है और वह नहीं पढ़ी जाती है तो इससे बड़ा दुर्भाग्य कुछ नहीं हो सकता। पुस्तकों के प्रति प्रेम खत्म होने पर यदि यह स्थिति बनती है तो यह समाज के लिए कितनी भयावह होगी इसकी कल्पनी भी नहीं की जा सकती।

एक समय था जब देश भर में रेलवे स्टेशनों पर एच व्हीलर का स्टोर पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं से भरा होता था। 60 से लेकर 80 के दशक को हम पुस्तक और मुद्रित साहित्य का स्वर्ण काल मान सकते हैं। इस काल खंड में गुलशन नंदा, रानू, वेद प्रकाश शर्मा और सुरेंद्र मोहन पाठक जैसे लुगदी साहित्य के सैकड़ों लेखकों की पुस्तकें एच व्हीलर के रेलवे स्टाल पर देखने को मिलती थी। भले ही लुगदी साहित्य को भारतीय समाज में वह दर्जा नहीं मिला जो प्रेमचंद, जयशंकर प्रसाद, जैनेंद्र, यशपाल और रेणु जैसे हिंदी साहित्य के प्रतिष्ठित लेखकों को मिला, लेकिन व्यापक स्तर पर पुस्तक पढ़ने की संस्कृति को बल प्रदान करने में लुगदी साहित्य की सशक्त भूमिका थी। 80 के अंतिम दशक में वेद प्रकाश शर्मा के वर्दी वाला गुंडा जासूसी उपन्यास ने 8 करोड़ प्रतियों की बिक्री का रिकार्ड बनाया था। इसी से पता चलता है कि उस समय तक हमारे हिंदी समाज में पढ़ने की संस्कृति कितनी गहरी थी। उसी के समानांतर पाठक प्रेमचंद, जयशंकर प्रसाद, जैनेंद्र, यशपाल, मोहन राकेश, राजेंद्र यादव और कमलेश्वर आदि साहित्यक लेखकों की रचनाएं भी पढ़ते थे। आज तो स्थिति यह है कि हिंदी के स्नातक और स्नातकोत्तर के छात्रों के हाथ में इन साहित्यिक लेखकों के टेक्स्ट बुक तक नहीं होते। अधिकांश छात्र बिना पुस्तक खरीदे इंटरनेट से सामग्री जुगाड़ कर पढ़ लेते हैं और अच्छे नंबर से परीक्षा भी पास कर लेते हैं व जैसे-तैसे नौकरी की भी जुगाड़ हो जाती है। कई बड़े रेलवे स्टेशनों पर एच व्हीलर के स्टाल अब खाली पड़े हैं और कुछ में तो पुस्तक की जगह अन्य सामग्रियां बिकने लगी हैं। प्रायः हर प्रकाशक हिंदी पुस्तकों नहीं बिकने को रोना रोता है। हिंदी के कुछ प्रकाशक यदि बाजार में टिके हैं तो सरकारी खरीद के आधार पर। आम पाठक को न तो अब अच्छी पुस्तकों की तलाश है और न ही प्रकाशक उनके तक पुस्तकें पहुंचाने का कोई जोखिम उठाना चाहते हैं। अब तो स्वयं प्रकाशन के आधार पर लेखक खुद अपने पैसों से पुस्तकें प्रकाशित करवाते हैं और वह भी अपने नाम के लिए या किसी खास जरूरतों की पूर्ति के लिए ही ऐसा करते हैं। ऐसे संपन्न लेखकों का आम पाठकों से कोई सरोकार नहीं होता है।

अब सवाल है कि पढ़ने की संस्कृति पर संकट मंडराने लगा है तो इसका उपाय क्या है और कौन हस्तक्षेप करेगा। अगर समय रहते सरकार और बुद्धिजीवी वर्ग पुस्तक पढ़ने की संस्कृति बनाए रखने के लिए मुहिम छेड़ने के लिए आगे नहीं आते हैं तो परिस्थित भयाव रूप लेगी। पुस्तकों के बिना हमारा समाज बौद्धिक स्तर पर खोखला हो जाएगा। छोटे-बड़े शहरों और कसबों में स्थित सिनेमा घरों में कभी फिल्में देखने के लिए लोगों की भारी भीड़ जुटती थी। मल्टिप्लेक्स के प्रचलन में आने से ये सिनेमा घर पहले बंद हुए और बाद में वहां टावरनुमा फ्लैट व शापिंग कांप्लेक्स खड़े कर दिए गए। समय रहते सरकार या समाज के जागरूक लोगों की ओर से सिनेमा घरों के अस्तित्व को बचाने की कोई कोशिश नहीं की गई। नतीजा आज सबके सामने है। उसी तरह पुस्तक पढ़ने की संस्कृति बनाए रखने के लिए समय रहते कोई व्यापक मुहिम नहीं छेड़ी गई तो फिर सिनेमा घरों की तरह पुस्तकों का अस्तित्व भी खतरे में पड़ जाएगा।

अफगानिस्तान संकट और वैश्विक मीडिया

डॉ. ललित कुमार

सहायक प्रोफेसर

आइसेक्ट विश्वविद्यालय, हजारीबाग

15 अगस्त 2021 को तालिबानी संगठनों ने राष्ट्रपति भवन पर कब्जा करके पूरे मुल्क को संदेश दे दिया कि अब हमने अपनी जंग जीत ली है और अफगानिस्तान के 70–80 फीसदी हिस्सों पर हमारा कब्जा हो चुका है। तालिबान का अचानक से काबुल पर कब्जा करना दुनिया भर की राजनीति में एक भूचाल पैदा कर देता है, जिससे पूरे वैश्विक मीडिया का कैमरा अचानक से अफगानिस्तान संकट की ओर मुड़ने लग जाता है। यानी अफगानिस्तान अचानक से दुनिया भर की मीडिया के लिए एक हॉट न्यूज बन जाता है, जो काबुल की हर गतिविधियों पर नजर गड़ाए खबरों को दिखाने में जुट जाता है। साथ ही काबुल में अफरा—तफरी के माहौल को मीडिया का कैमरा हर एंगल से खबरों को ब्रेकिंग न्यूज के तौर पर दिखाने लगता है। जिससे यही समझ में आता है कि तालिबानी अपने मकसद में कामयाब हुए और अफगान सरकार तालिबान के सामने आत्मसमर्पण कर चुकी है। अब इसे अमेरिका की सोची समझी रणनीति करार दिया जाए या फिर पाकिस्तान का तालिबानियों को खुले तौर पर समर्थन। आखिर जो भी हो लेकिन तालिबान ने कुछ ही महीनों के भीतर लगभग पूरे

अफगानिस्तान पर कब्जा कर लिया। अफगानिस्तान के संकट की इस घड़ी में गिने चुने देशों को छोड़कर ज्यादातर देश चिंतित होते हुए नजर आए। ऐसे वक्त पर कोई अफगानिस्तान की मदद करने की स्थिति में भी नहीं रहा क्योंकि तालिबानियों के बर्बरतापूर्ण रवैये से कोई रिस्क नहीं लेना चाहेगा। अफगान दूतावास में विदेशियों के फंसे होने से सभी की अपनी मजबूरियां रही। दक्षिण एशिया में 8 देश (भारत, पाकिस्तान, श्रीलंका, बांग्लादेश, नेपाल, मालदीव, भूटान और अफगानिस्तान) शामिल हैं, जिनमें अफगानिस्तान को अप्रैल 2007 को 14वें शिखर सम्मेलन में दक्षेस का आठवां सदस्य बनाया गया। पाकिस्तान को छोड़कर बाकी सभी देश तालिबान के इस कदम से नाखुश दिखे क्योंकि

उनको लगता है कि तालिबान लोकतंत्र में विश्वास नहीं रखता बल्कि वह शरिया कानून लागू करके अफगानिस्तान पर शासन करना चाहता है। इससे पाकिस्तान को एक बड़ा लाभ यह होगा कि अफगानिस्तान में भारत का प्रभाव कम होगा और तालिबान, पाकिस्तान-चीन की मदद से राज करेगा। साथ ही चीन अमेरिकी प्रभाव को कम करके बड़े पैमाने पर यहां निवेश करेगा, जिससे दक्षिण एशियाई देशों में उसका दबदबा बन सके। इसलिए पाकिस्तान-चीन तालिबान को आंतरिक रूप से खुला समर्थन देते हुए नजर आ रहे हैं। शैशिक मीडिया जहां तालिबान के इस रवैये को पूरे विश्व के सामने एक कट्टर इस्लामिक शासन की नीतियों के तौर पर सामने रख रहा है। उससे तालिबान का चेहरा एक विलेन के रूप में उभरा है। साथ ही अमेरिका

इस घड़ी में गिने चुने देशों को छोड़कर ज्यादातर देश चिंतित होते हुए नजर आए। ऐसे वक्त पर कोई अफगानिस्तान की मदद करने की स्थिति में भी नहीं रहा क्योंकि तालिबानियों के बर्बरतापूर्ण रवैये से कोई रिस्क नहीं लेना चाहेगा। अफगान दूतावास में विदेशियों के फंसे होने से सभी की अपनी मजबूरियां रही।

की वतन वापसी से वैशिक मीडिया अमेरिका पर सवाल खड़े करने लगा है। पिछले दो दशकों में अमेरिका ने अफगानिस्तान पर लगभग 148.64 लाख करोड़ रुपए खर्च किए। अब ऐसे में सवाल यही उठता है कि अमेरिका ने अफगानिस्तान में, जो पैसे इंफ्रास्ट्रक्चर के ऊपर लगाए हैं। वह एक तरीके से फिजूल खर्चा नहीं है तो क्या है? और अब उनका भविष्य क्या होगा? यानी अमेरिका की वापसी से वहां ड्रग्स का अवैध कारोबार फिर से बड़े पैमाने पर फलने फूलने लगेगा। भारतीय मीडिया तालिबानियों को ऑक्सीजन देने में अमेरिका का एक बड़ा हाथ बता रहा है। पाकिस्तान-चीन का अंदर ही अंदर तालिबान को खुले समर्थन जैसी खबरों को प्रमुखता से मीडिया

में स्पेस दिया जा रहा है। लेकिन पाकिस्तानी मीडिया तालिबानियों का स्वागत करते हुए लिख रहा है कि पाकिस्तान सरकार, अफगानिस्तान की भलाई के लिए एक साथ मिलकर काम करना चाहती है और शांतिपूर्ण ढंग से वह राजनीतिक गतिविधियों का हल निकालने में चीन की भी मदद ले रहा है। पाकिस्तानी अखबार 'एक्सप्रेस न्यूज' तालिबान के राजनीतिक प्रमुख मुल्ला अब्दुल गनी बिरादर का बयान प्रमुखता से प्रकाशित किया है, जिसमें लिखा है कि वे देश की अवाम की सेवा और उनकी रक्षा की जिम्मेदारी लेते हैं। 'दुनिया' अखबार लिखता है कि तालिबान काबुल पर कब्जा करके अब पूरे देश से आम माफी मांगने का ऐलान करता है और शांति के साथ सत्ता हस्तांतरण करके आपस में बातचीत करना चाहता है। 'दुनिया' अखबार

आगे लिखता है कि तालिबान की 313 यूनिट काबुल पर कंट्रोल का जिम्मा संभाल चुकी है, जबकि विशेष यूनिट को राष्ट्रपति हाउस की सुरक्षा में तैनात कर दिया गया है। 'दुनिया जंग' हामिद करजई हवाई अड्डे पर हुई फायरिंग की खबर को प्रमुखता से प्रकाशित करते हुए लिखता है कि भीड़ को हटाने के लिए अमेरिकी सेना ने मिलिट्री फ्लाइट में चढ़ने से रोकने के लिए अफगान आवाम पर फायरिंग करके 5 लोगों को मौत के घाट उतार दिया। अंग्रेजी अखबार 'द एक्सप्रेस ट्रिब्यून' लिखता है कि तालिबान काबुल में राष्ट्रपति भवन पर नियंत्रण करके अफगानिस्तान में युद्ध खत्म करने का ऐलान कर चुका है, जबकि हवाई अड्डे के चारों तरफ अफरा—तफरी भरे माहौल से ज्यादातर देश अपने नागरिकों को सुरक्षित निकालने के लिए संघर्ष कर रहे हैं, 'द नेशन' ने एक उच्च अधिकारी के हवाले से खबर छापी है कि तालिबान मात्र 10 दिनों में देशव्यापी सैन्य जीत हासिल करके

काबुल तक जा पहुंचे। 'डॉन' अखबार अफगानिस्तान में तालिबान के कंट्रोल और युद्ध समाप्ति की घोषणा की खबर को प्रमुखता से छपता है, जो तालिबान राजनीतिक कार्यालय के प्रवक्ता मोहम्मद नईम के हवाले से लिखता है कि हम किसी को भी अपनी जमीन किसी के खिलाफ इस्तेमाल नहीं होने देंगे और न ही हम किसी को नुकसान पहुंचाएंगे। पाकिस्तानी मीडिया के अलावा वैश्विक मीडिया तालिबान की जीत

को अमेरिका की नाकामी बता रहा है। रूसी मीडिया काबुल को इतने जल्दी तालिबान के हाथों में चले जाने पर अफसोस तो जता रहा है लेकिन तालिबान के अगले कदमों पर उसकी नजर लगातार बनी हुई है। 'रशियन सोसाइटी ऑफ पोलिटिकल एनालिस्ट' के विश्लेषक आंद्रेई सेरेंको के अनुसार, अमेरिकी प्रशासन का गनी सरकार को अचानक से सैन्य मदद का इनकार करना और तालिबान पर हवाई हमले न करने का फैसला लेना अमेरिका की सोची समझी रणनीति का परिणाम है। इसका मतलब साफ है

कि तालिबान और अमेरिका के बीच कोई सीक्रेट डील हुई है। अब जो भी हो अमेरिका को इसका भारी नुकसान तो उठाना पड़ सकता है और अफगानिस्तान में जो कुछ भी हुआ उसके सहयोगियों की नजर में अमेरिका का दबदबा कम होगा। ईरानी मीडिया अफगानिस्तान में हुए घटनाचक्र को अमेरिका की सबसे बड़ी नाकामी बता रहा है। ईरान की न्यूज एजेंसी 'ईरना' (इस्लामिक रिपब्लिक न्यूज एजेंसी) ने अमेरिकी

पत्रकार के हवाले से बताया है कि अमेरिका ने पिछले 20 वर्षों में 88 अरब डॉलर खर्च करके अफगान सेना को ट्रेण्ड करने में लगा दिए, लेकिन वही सेना एक ही महीने में तालिबान का मुकाबला नहीं कर पाई। ईरानी मीडिया के जरिए हाल के दिनों में ईरान सरकार सीमा पार अफगान शरणार्थियों के लिए कैंप लगाने की योजना बना रही है। तुर्की मीडिया अफगान शरणार्थियों की बड़ी संख्या को लेकर सबसे ज्यादा चिंतित है।

तुर्की के राष्ट्रपति अर्दोआन ने कहा है कि ईरान के रास्ते अफगान शरणार्थियों की बड़ी संख्या तुर्की में प्रवेश कर सकती है। तुर्की प्रशासन इसे ध्यान में रखते हुए लगातार स्थिरता बनाने की कोशिश में है। हालांकि तुर्की में शरणार्थी आबादी पूरे विश्व में सबसे ज्यादा है। इसलिए अब तुर्की में शरणार्थियों के खिलाफ विरोध भी तेज होने लगे हैं। जर्मनी के ज्यादातर अखबार जहां अफगानिस्तान से विदेशियों को सुरक्षित बाहर निकालने की खबरों को प्रमुखता से प्रकाशित कर रहे हैं, वहीं फ्रांस के अखबारों ने तालिबान की इस जीत को पश्चिमी देशों के लिए खुफिया तंत्र का एक बड़ा झटका साबित बताया है। इजराइली मीडिया, काबुल में बड़ी तेजी से बदलते परिदृश्य को अमेरिका की विदेश नीति पर होने वाले बुरे प्रभाव को कवरेज देने में लगा है। जिससे मध्य-पूर्वी देशों में अमेरिका की भूमिका बदल सकती है। वैश्विक मीडिया की भूमिका अफगानिस्तान संकट पर अमेरिका के ऊपर सीधे सवाल खड़ा करती है। ब्रिटेन की मीडिया तालिबानी सत्ता को मान्यता नहीं देने का ऐलान कर चुकी है। वहीं चीन और पाकिस्तान तालिबान के साथ दोस्ती का हाथ बड़ा चुके हैं और उन्होंने काबुल से अपने दूतावास को बंद नहीं करने का ऐलान भी कर दिया है। जबकि कतर और तुर्की में तालिबान का विरोध शुरू होने लगा है। चीनी मीडिया अफगानिस्तान में तालिबानी शासन को एक दोस्ती के तौर पर देख रही है और उसकी नजरें पूरे मध्य एशियाई देशों पर हैं। साथ ही रूसी मीडिया तालिबानी जीत को अमेरिका के लिए एक ऐतिहासिक पराजय बता रहा है, जो आपसी संबंध बनाने को लेकर थोड़ा उलझन में जरूर है, लेकिन राष्ट्रपति व्लादीमीर पुतिन ने कहा है कि हमारे दूतावास अधिकारी तालिबानी अधिकारियों से बातचीत करने में लगे हैं। यानी

तालिबान के प्रति रूस का रुख अभी क्या होगा? यह कहा नहीं जा सकता। भारतीय मीडिया अफगानिस्तान में हुई हिंसा और जोर-जबरदस्ती करके बनाई जाने वाली सरकार को मान्यता को नहीं दे रहा है। साथ ही अफगानिस्तान में निवेश की गई अरबों रुपये की संपत्ति का नुकसान उसे सबसे ज्यादा सता रहा है और भारतीय मीडिया इसे एक बड़ी कवरेज के रूप में शामिल कर रहा है। भारत की चिंता आतंकवाद और अफगानिस्तान में हो रही विकास परियोजनाओं की सुरक्षा को लेकर भी है। ऐसे में भारत आगे बढ़कर कभी तालिबान को स्वीकार नहीं करना चाहेगा। भारतीय मीडिया की कवरेज का विश्लेषण करने पर यही बात निकलकर सामने आती है कि वर्ष 1996–2001 में तालिबान शासन को संयुक्त अरब अमीरात और सऊदी अरब के अलावा पाकिस्तान ने जो मान्यता दी थी। ठीक उसी प्रकार से यही देश तालिबान शासन को फिर से मान्यता देने में लगे हैं। जिसमें चीन की भूमिका सबसे ज्यादा अहम् होगी। फरवरी 2020 में अमेरिका और तालिबान के बीच समझौतों के बाद से अमेरिकी फौज की वापसी का जो कार्यक्रम शुरू हुआ। उससे यही लगा कि तालिबान आईएसआई की मदद से इतना ताकतवर हो गया कि जिसने पूरे अफगानिस्तान पर फिर से अपना दबदबा कायम कर लिया है।

प्रकृति सौन्दर्य और केदारनाथ सिंह की कविता

डॉ. सुनीता दुरंगल

एसोसिएट प्रोफेसर

हिन्दी विभाग, दौलत राम कॉलेज,

दिल्ली विश्वविद्यालय

महाभारत के कुरुक्षेत्र के विनाश की कहानी। इतना ही नहीं आदिम काल में रचे गए वेद, पुराण, उपनिषद्, श्रुतियाँ, अरण्यक, वेदांतों, सांख्य योग सभी में प्रकृति अपनी भूमिका निभाती रही है। जिसमें शिव भी है— सौन्दर्य भी और सत्य भी। यही प्रकृति कालिदास के 'मेघदूत' में अपने हर रूप में मौजूद नजर आती है अपनी प्रिया तक मेघों को दूत बनाकर यक्ष का संदेश अलकापुरी तक पहुँचाने की अनुभूति काव्य सौन्दर्य में प्रकृति के हर रूप की अभ्यर्थना करती नजर आती है। 'ऋतुसंहार' का कालिदास न सिर्फ बसंत पर मोहित है वह शिशिर, आषाढ़ और अगहन को भी गढ़ देता है। समय परिवर्तन के साथ प्रकृति से जुड़े न जाने कितने अनुभवों को कवियों ने रचा है पर परिवर्तित होकर भी परिवर्तित नहीं हुए सूर्य, चाँद सितारे ग्रह, नक्षत्र, हवाएँ, नदियाँ, साँझ, भोर बरखा, आज भी ये प्रकृति के हिस्से अपने सौन्दर्य के साथ मौजूद है। भले ही प्रकृति संवाद नहीं करती। पर कवि गा उठा। प्रथम रश्मि का आना रंगिणी तने कैसे पहचाना? राम—सीता के मिलन की साक्ष्य बनी यह प्रकृति मिलन ऋतु को निमंत्रण देती है तो कही दूर अशोक

वाटिका में सीता को राम के आने का संदेश देते पवन सुत एक अलग ही कहानी प्रकृति के सान्निध्य में रच रहे थे। प्रकृति के मोहक रूप में बंधे दुष्यंत प्रकृति को साक्ष्य मानकर शकुंतला से गंधर्वरीत से विवाह बंधन में बंध जाते हैं। शकुंतला के सौन्दर्य को उसकी परिकाष्ठा में दुष्यंत ने इसी प्रकृति की निकटता में जीया था। अनादि काल से यह प्रकृति मानव को पूजा उपासना का भी

हिस्सा रही है, कहीं नदियों को पूजा गया तो कहीं वृक्षों की पूजा होती रही है सिर्फ इतना ही नहीं भारतीय परंपरा में आज भी ये परंपराएँ मौजूद हैं। सूर्य को अर्ध्य देना चांद-सितारों या ध्रुव तारे को देख उपवास तोड़ने की रीत आज भी निभाई जाती हैं— इतना ही नहीं फूलों के बिना कोई पूजा संपन्न नहीं होती— वहीं आंगन में तुलसी चौरा आज भी भारतीय घरों में शुभ मंगल का प्रतीक बनकर अपना वजुद बनाए हुए हैं।

चौरा आज भी भारतीय घरों में शुभ मंगल का प्रतीक बनकर अपना वजुद बनाए हुए है। केदार नाथ सिंह की कविताओं में यही प्रकृति अपने सौन्दर्य ऐश्वर्य और उदात्त के साथ मौजूद नजर आती है। जहाँ कवि कुछ नहीं बदलता वह जैसा महसूस करता है वैसा ही रच देता है जो है जैसा है वैसा ही है केदार जी की कविताओं में प्रकृति का सौन्दर्य—वैभव— 'झर-झर-झर' झरती हैं पत्तियाँ सवेरे से और हवा पागल है। (पृ.-32, सुबह : पतझर) केदार नाथ सिंह ने अपने सभी

कविताओं संग्रहों में इस सौन्दर्य को बेहद खुबसूरती से गढ़ा है, 'अकाल में सारस', 'जमीन पक रही है', 'यहाँ से देखो', 'ऑसू का वजन', 'उत्तर कबीर तथा अन्य कविताएँ, ताल्सताय और सायकिल' कविता संग्रहों में प्रकृति जिस रूप में नजर आती है वह केदार जी का अपनी मिट्टी से जुड़े होने के सच को बयां करता काव्य संसार है। प्रकृति का सौन्दर्य भी कुछ ऐसा है

जो अपनी ओर बरबस खींच ले आता है— कभी सोचा है आपने वह जो आपकी कमीज है किसी खेत में खिला एक कपास का फूल है जिसे पहन रखा है आपने जब फुर्सत मिले तो कृपया एक बार इस पर सोचें जरूर। (पृ. 141— सृष्टि का पहर) आधुनिकता की दौड़ में मानवीय जिंदगी के सच को बयां करती ये अनुभूतियाँ न सिर्फ जिंदगी की व्यस्तताओं को बयां कर रही हैं अपितु 'कपास का फूल' यहाँ अचानक महत्व का हो जाता है

जिसके ओर शायद ही ध्यान गया हो यही अनुभव जहाँ केदार जी कविताओं में खुद को रच रहे हैं। जो प्रकृति के विलक्षण सौन्दर्य को भी परिभाषित करते हैं। केदार नाथ सिंह उन सभी अनुभूतियों को उकेरते हैं जो प्रकृति के सौन्दर्य का वैभव ही नहीं ऐश्वर्य भी हैं उनके लिए कहीं दिन पपीहे सा है तो कहीं उन्हें आकर्षित करती है पूरव की धुंध भरी चुप्पियाँ, इतना ही नहीं जिस सच को वे जी रहे हैं उसे प्रकृति की पन्हा में गढ़ रहे हैं। जहाँ फसलें पक

प्रकृति मानव को पूजा उपासना का भी हिस्सा रही है, कहीं नदियों को पूजा गया तो कहीं वृक्षों की पूजा होती रही है सिर्फ इतना ही नहीं भारतीय परंपरा में आज भी ये परंपराएँ मौजूद हैं। सूर्य को अर्ध्य देना चांद-सितारों या ध्रुव तारे को देख उपवास तोड़ने की रीत आज भी निभाई जाती हैं— इतना ही नहीं फूलों के बिना कोई पूजा संपन्न नहीं होती— वहीं आंगन में तुलसी चौरा आज भी भारतीय घरों में शुभ मंगल का प्रतीक बनकर अपना वजुद बनाए हुए हैं।

कर झुक जाती है हवा में ओर वे स्वीकार करते हैं— महुआ उसका मित्र था आम उसका देवता बाँस बबूल थे स्वजन—परिजन (पृ.—31, फसल) प्रकृति का सौन्दर्य उन्हें नील दिशाओं की ओर ले जाता है तो कहीं जलाशयों की ओर जो ऊँधते नजर आते हैं। जूही के वन जादू से प्रतीत होते हैं कहीं सर्द रातों में आकर्षण है तो कहीं वनों में गाते पक्षी मोहक लगते हैं। बालू पर सूखी जलधारें, हल्दी के पानी सी हंसती नजर आती हैं। चिड़िया के घोंसले, बहती बैराई हवा, कलकल बहती नदियाँ, रंगवर्षा, गंधवर्षा बादल, पंक्ति बद्ध चिड़ियाँ, पतझड़, अगहन, आषाढ़, फागुन के झूले, जाड़ों की ठिठुरती सर्द रातें, जलकुम्भियाँ, पत्तियों पर गिरती बारिश की सिप—सिप—सिप् अनवरत शोर करती मचलती बूँदे, झाड़—झाड़, छिपता सूर्य, अथाहा फैला सन्नाटा, नन्हें पत्तों से झांकती कत्थई कोपले, झार—झार झरती सवेरे—सवेरे पत्तियाँ, चकवड़ धास की पत्तियाँ, धान के नए—नए नन्हें पौधों की लहराई कंपन, रेत पर

फैली दोपहर, बालू के कण, सरसों के झुंड, खजुर के पत्ते, हल्दी सी साँझ, कौँधती बिजलियाँ, दूर उड़ते कौवे, वन—सुगे टपकता महुआ, पुआल की गंध, मचलती दुपहरिया, दूर तक फैले खेत खलिहान, सब है केदार जी की कविताओं में। उन्हें प्रकृति अपने शब्द कोश का हिस्सा जान पड़ती है वे महसूसते हैं भोजपुरी की क्रियाएँ खेतों से आई हैं, संज्ञाएँ पगड़ण्डियों से, कौँधती

बिजलियों और टपकते महुए के स्वर ध्वनियों को रचते हैं और शब्दों को वे दानों से मानते हैं। यही है उनकी प्रकृति का असीम अनंत सौन्दर्य जो खेतों, खलिहानों, पगड़ण्डियों, कौँधती बिजलियों, टपकते महुआ और दानों से बना ही नहीं उनमें रचा बसा शाश्वत और उदात्त हैं। धास की ओर जब उनका ध्यान जाता है तो वे न सिर्फ उसके सौन्दर्य को उकेरते हैं अपितु एक ऐसे अस्तित्व को बचा लेना चाहते हैं जिसे आज उपेक्षित सा कर दिया गया है वे धास के उसके पूरे के पूरे सौन्दर्य में रच रहे हैं— ‘धास परेशान है इन दिनों आने दो उसे अगर आती है वह दुनिया के तमाम शहरों से खदेड़ी हुई जिस्पी

है वह तुम्हारे शहर की धूल में अपना खोया हुआ नाम और पता खोजती हुई। (पृ. 110, ‘धास’— कवि ने कहा)

ये केदार जी की उस अनुभूति सत्य का प्रमाण है जिसे आज की भागमभाग की जिंदगी में अनदेखा किया जा रहा है यही धास सृष्टि का फैला विस्तार है यही उदात्त है और यही सौन्दर्य भी। वे कहीं गिलहरी से बातें करते हैं कहीं नन्हीं चिड़िया से, कहीं महुआ वन में दूर तक चले जाते हैं

कहीं मकई के खोतों में घुम आते हैं तो कभी बगुलों के साथ दूर तक उड़ते उनका पीछा करते हैं। गेहुँअन साँप, झरते नीम के पत्ते, झुर—झुर सरसों के लहराते खेत—खलिहान, धूसर धूप, चर—चर के ध्वनियों में गीत गाते बांस वन, थककर ठहरी धूप, पके हुए ज्वार के खेत, डूबता दिन, झरनाठ वृक्ष, शीशम के वृक्ष, चिलबिल, और वे ये घोषित करते हैं— मैं घोषित करता हूँ कि पानी मेरा धर्म है आग मेरा वेदांत हवा से मैंने दीक्षा ली है धास—पात मेरे सहपाठी, महुआ मेरा देवता है मकई मेरा कल्पवृक्ष गोयंडा मेरा तीर्थ है।

गेहुँअन साँप, झरते नीम के पत्ते, झुर—झुर सरसों के लहराते खेत—खलिहान, धूसर धूप, चर—चर के ध्वनियों में गीत गाते बांस वन, थककर ठहरी धूप, पके हुए ज्वार के खेत, डूबता दिन, झरनाठ वृक्ष, शीशम के वृक्ष, चिलबिल, और वे ये घोषित करते हैं— मैं घोषित करता हूँ कि पानी मेरा धर्म है आग मेरा वेदांत हवा से मैंने दीक्षा ली है धास—पात मेरे सहपाठी, महुआ मेरा देवता है मकई मेरा कल्पवृक्ष गोयंडा मेरा तीर्थ है।

पानी मेरा धर्म है आग मेरा वेदांत हवा से मैंने दीक्षा ली है धास—पात मेरे सहपाठी, महुआ मेरा देवता है मकई मेरा कल्पवृक्ष गोयंडा मेरा तीर्थ है। (पृ.—42, ‘पानी’—ऑसू का वजन) केदार जी की कविता में प्रकृति के पंचतत्त्वों का यह सच अजब सा महसूस होता है जिसे वे अपना धर्म मानते हैं और दीक्षा—हवाओं से पा लेते हैं यहाँ वे न सिर्फ कुछ अलग गढ़ रहे हैं अपितु कई बिंबों को बारीकी के साथ स्थापित भी कर रहे हैं। प्रकृति में न सिर्फ सौन्दर्य अपितु इस प्रकृति से जुड़े मानवीय लोक विश्वास भी केदार जी की कविता में एक अलग भूमिका निभा रहे हैं इंसान भले ही आने वाले खतरों से अनजान रहे पर यह प्रकृति हर रूप में इंसान को अगाह कर रही है। कुछ विश्वास, मान्यताएँ, आस्थाएँ आज भी भारतीय परंपरा का हिस्सा है जो लोकगीतों, लोक धुनों, लोकविश्वासों के तहत प्रकृति से रच रहे हैं। एक पिता ने अपने पुत्र को कुछ ऐसे सूत्र दिए जिन्हें वे प्रकृति के जरिए ही साँझा करते हैं उनके इस अनुभव से जुड़ है। चीटियां, सियारों, ध्रुवतारा वे कहते हैं— अगर कभी लाल चिटियां दिखाई पड़े तो समझना आंधी आने वाले हैं। सियारों की आवाजें सुनाई न पड़े तो समझ जाना बुरे दिन आने वो हैं। यही विश्वास आकाश में टिटिमाते ध्रुवतारे ने संकेतों में कहे हैं पर यकिन कुछ और पर हो जाता है— वे कहते हैं— ‘अगर अंधेरे में रास्ता भूले तो ध्रुवतारे पर नहीं, दूर से आती कुत्तों के भौंकने की आवाजों पर भरोसा करना, बुध के रोज उत्तर से कभी मत जाना, और इतवार को पच्छिम। कुछ ऐसे भी भाव ‘एक लोक गीत की अनुकृति में’ — नजर आते हैं आम की सौर पर मत करना वार नहीं तो महुआ रात भर रायेगा जंगल में कच्चा बाँस कभी काटना मत नहीं तो सारी बांसुरियाँ हो जाएगी बेसुरी। (पृ.—36, ऑसू का वजन) केदार जी बटोर लेते हैं झरबेरियों में भी सौन्दर्य

उन्हें अरावली की झाड़ियों में बरसों से पनपी झरबेरियों में पुरातन संगीत की लय सुनाई पड़ती है वे कहते हैं— ये वही झरबेरियाँ हैं जिन्हें शायद सभ्यता के पहले दिन ही सूची से काटकर फेंक दिया गया था बाहर। (पृ.—62, कवि ने कहा) यही है केदार जी की कविता में प्रकृति का विस्तार जो सुंदर है, सत्य है और शिव भी है।

संदर्भ सूची :

1. ‘जमीन पक रही है’—केदार नाथ सिंह, प्रकाशन संस्थान, पंचम संस्करण—2012
2. ‘यहाँ से देखो’—केदार नाथ सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, 1999
3. ‘अकाल में सारस’—केदार नाथ सिंह, राजकमल प्रकाशन, दूसरा संस्करण—1990
4. ‘उत्तर कबीर तथा अन्य कविताएँ’—केदारनाथ सिंह, राजकमल प्रकाशन, दूसरा संस्करण—1999
5. ‘ताल्सताय और सायकिल’—केदार नाथ सिंह, राजकमल प्रकाशन, 2005
6. ‘ऑसू का वजन’— केदारनाथ सिंह, राजकमल प्रकाशन
7. ‘मेरे समय के शब्द’— केदार नाथ सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, 1995
8. मेरे साक्षात्कार, केदार नाथ सिंह, किताब घर प्रकाशन, संस्करण, 2004
9. कवि ने कहा, केदा नाथ सिंह, किताब घर प्रकाशन, 2014

आदिवासी और उनके अधिकार का सवाल

संदीप कुमार यादव (शोध छात्र)

अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय,

रीवा, मध्यप्रदेश

आदिवासी शब्द दो शब्दों 'आदि' और 'वासी' से मिलकर बना है, जिसका अर्थ है मूल निवासी। भारत की जनसंख्या का 8.6% यानी की लगभग दस करोड़ जितना एक बड़ा हिस्सा आदिवासियों का है। पुरातन लेखों में आदिवासियों को अस्तित्व कहा गया है। महात्मा गांधी ने आदिवासियों को गिरिजन (पहाड़ पर रहने वाले लोग) कहकर पुकारा। भारतीय संविधान में आदिवासियों के लिए 'अनुसूचित जनजाति' शब्द का प्रयोग किया गया है। भारत के प्रमुख आदिवासी समुदायों में भीलाला, धानका, गोंड, मुंडा, खड़िया, हो, बोडो, कोल, भील, कोली, सहरिया, संथाल, कुडमी, मीणा, बिरहोर, पारधी और टाकणकार आदि प्रमुख हैं। भारत में आदिवासियों को प्रायः जनजातीय लोग के रूप में जाना जाता है। आदिवासी मुख्य रूप से भारतीय राज्यों उड़ीसा, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, राजस्थान आदि में बहुसंख्यक व गुजरात, महाराष्ट्र, आंध्र प्रदेश, बिहार, झारखंड और पश्चिम बंगाल में अल्पसंख्यक हैं। जबकि भारतीय पूर्वोत्तर राज्यों में यह बहुसंख्यक हैं, जैसे मिजोरम। भारत सरकार ने इन्हें भारत के संविधान की पांचवी अनुसूची में 'अनुसूचित जनजातियों' के रूप में मान्यता दी है। अक्सर इन्हें अनुसूचित जातियों के साथ एक ही श्रेणी 'अनुसूचित जाति एवं जनजाति' में रखा जाता है। 'चंदा समिति' ने सं. 1960 में अनुसूचित जातियों के अंतर्गत किसी भी जाति को शामिल करने के लिए 5 मानक निर्धारित किए हैं। भौगोलिक एकाकीपन, विशिष्ट संस्कृति, पिछड़ापन, संकुचित स्वभाव, आदिम जाति के लक्षण। झारखंड के

सरना आदिवासी खुद को हिंदू कहे जाने का विरोध कर रहे हैं और अपने धर्म को मान्यता दिए जाने के लिए आंदोलन कर रहे हैं। यह समुदाय छोटा नागपुर क्षेत्र में रहते हैं। इनका कहना है कि वे हिंदू नहीं हैं वे प्राकृति के पुजारी हैं, उनका अपना धर्म है। सरना जो हिंदू धर्म का हिस्सा या पथ नहीं है। इसका हिंदू धर्म से कोई लेना देना नहीं है। इनकी मुख्य मांग है कि उनकी गणना के आगे हिन्दू न लिखा जाए। शिवासी सरना महासभा के संयोजक शिवा कच्छप कहते हैं 'धर्म आधारित जनगणना में जैनियों की संख्या 45 लाख और बौद्धों की संख्या 84 लाख है। हमारी आबादी तो उनसे कई गुना ज्यादा है। पूरे देश में आदिवासियों की आबादी लगभग 11 करोड़ से ज्यादा है फिर क्यों ना हमारी गिनती अलग से हो?' आदिवासियों के जन्म, मृत्यु, विवाह, पर्व-त्यौहार के रीति-रिवाज अलग हैं। धर्म से जुड़ा यह मुद्दा सरकार में आदिवासियों के प्रतिनिधित्व को लेकर है। अकेले झारखंड में सरकारी आंकड़ों के मुताबिक करीब 80 लाख आदिवासी हैं। जबकि हकीकत में यह संख्या और ज्यादा है। झारखंड विधानसभा की 81 सीटों में से 28 सीटें और 14 लोकसभा में 4 सीटें आदिवासियों के लिए के लिए सुरक्षित हैं। और आदिवासी इलाकों के लिए अलग से 'ट्राईबल एडवाइजरी काउंसिल' भी है। उनकी यह मांग लंबे समय से रही है। लेकिन अब यह आंदोलन का शक्ल ले रहा है। हाल ही में सुप्रीम कोर्ट ने वन अधिकार अधिनियम 2006 के आलोक में दिए गए अपने एक आदेश पर रोक लगा दी है। शीर्ष

अदालत ने पहले जंगलों में रह रहे उन आदिवासियों—वनवासियों को हटाने का आदेश दिया था। दरअसल यह लोग वन अधिकार कानून 2006 के तहत अपना दावा साबित नहीं कर पाए थे। कोर्ट ने इस रोक के साथ सभी राज्यों को हलफनामा दाखिल कर वन भूमि पर लोगों के दावे नकारने की प्रक्रिया का ब्यौरा पेश करने को कहा है। इसके बाद देश के 21 राज्यों में अनुसूचित जनजातियों और अन्य पारंपरिक वनस्पतियों से संबंधित लाखों लोगों को फिलहाल जंगलों से बेदखली में राहत मिल सकेगी। इसके पहले 'भारतीय वन सर्वेक्षण' को वनों का एक सेटेलाइट सर्वेक्षण करने एवं जहां पर बेदखली हो चुकी है वहां की अतिक्रमण कारी स्थिति पर आंकड़े तैयार करने का निर्देश दिया गया था। पूर्व आदेश जंगलों के लिए काम करने वाले एनजीओ 'वाइल्ड लाइफ फर्स्ट' और कुछ अन्य संगठनों की संयुक्त जनहित याचिका पर आया था। ऐसे में सवाल है कि जंगलों पर हक की इस पूरी कवायद के क्या मायने हैं। सवाल यह है कि जिन आदिवासियों वनवासियों का अस्तित्व ही जंगल से जुड़ा हुआ है, क्या उन्हीं से जंगलों को खतरा है? साथ ही जंगल को ही अपना सबकुछ मानने वाले आदिवासी अगर अपना दावा साबित नहीं पर पाते हैं तो वहां से बेदखल होने के बाद वे कहां जाएंगे? दावों का अधिकार वर्ष 2008 में वन अधिकार कानून 2006 की वैधता को चुनौती देते हुए सुप्रीम कोर्ट में एक जनहित याचिका दायर की गई थी। याचिकाकर्ता का कहना था कि लोगों के वन भूमि पर अतिक्रमण किए जाने से अधिक संख्या में पेड़ पौधे कटे हैं और जंगली जानवरों को नुकसान हुआ है। इसमें यह दावा किया गया था कि देश भर में किए गए 44 लाख दावों में 20 लाख से ज्यादा दावों खारिज हो चुके हैं। इसमें मांग की गई थी

कि जिन लोगों के जंगलों में रहने के दावे खारिज हो गए हैं उन्हें वहां से निकाला जाए। कानून के मुताबिक वनस्पतियों और आदिवासियों को वन अधिकार एकट 2006 के तहत जंगल में रहने के अधिकार के अपने दावे सिद्ध करने थे। लेकिन देश के 21 राज्यों में 20 लाख से ज्यादा दावों को साबित नहीं किया जा सका। अतः राज्य सरकारों ने उन दावों को खारिज कर दिया था। इस मामले में याचिका दायर करने वाले वन्य जीव समूह और प्राकृतिक वैज्ञानिकों का तर्क है कि इस कानून के आधार पर कई गैर अधिकारिक लोग भी जंगल में रहने वाले वन्यजीवों पर असर पड़ रहा है। आदिवासियों के नाम पर जंगलों में अवैध कारोबार और जंगलों की कटाई भी हो रही हैं। इसलिए पर्यावरण और जंगलों की सुरक्षा को देखते हुए अनाधिकृत लोगों को हटाया जाना जरूरी है। वन अधिकार अधिनियम 2006, 18 दिसंबर 2006 को संसद ने सर्वसम्मति से अनुसूचित जाति एवं अन्य पारंपरिक वनवासी (वन अधिकारों की मान्यता) अधिनियम यानी वन अधिकार कानून 2006 पारित किया था। 31 दिसंबर 2007 को इसे जम्मू कश्मीर को छोड़कर पूरे भारत में लागू करने की अधिसूचना जारी की गई थी। यह कानून भारतीय वन अधिनियम 1927 के तहत वनवासियों के साथ किये गए ऐतिहासिक अन्याय को रद्द करने के लिए बनाया गया था। वन अधिनियम 1927 पीढ़ियों से रह रहे लोगों को वन भूमि पर 'अतिक्रमण' करार देता था। वनाधिकार कानून 2006 दो तरह के लोगों को वन में रहने का अधिकार देता है। पहले वे जो आदिवासी हैं और जंगल में रहते हैं, दूसरे वे जो परंपरागत रूप से वनवासी हैं और जंगल के उत्पादों पर पिछले 75 सालों से निर्भर हैं। इस कानून के मुताबिक जंगलों में रहने वाले आदिवासी समूहों और अन्य वनवासियों को

संरक्षण देते हुए उनकी पारंपरिक वन्य भूमि वापस सौंपी जानी थी। इसके लिए इन्हें निर्धारित मानदंडों के हिसाब से दस्तावेज दिखाकर वन भूमि पर अपना दावा पेश करना था। इसमें दस्तावेजों के आधार पर दावों की जांच सक्षम प्राधिकारी द्वारा किए जाने की व्यवस्था की गई है। इस कानून की धारा 6 में इन दावों को परखने की प्रक्रिया मौजूद है। इसमें राज्यों के अपीलीय समितियों के साथ-साथ ग्राम सभा के स्तर पर दावों की मंजूरी या ना मंजूरी के लिए पूरी प्रक्रिया बताई गई है। दावों को सही पाए जाने पर आदिवासियों और वनवासियों को वन भूमि के प्रयोग, संरक्षण और सुरक्षा का अधिकार मिल जाता है। इस कानून में सामूहिक पट्टे का भी प्रावधान किया गया है। इसके मुताबिक जंगल और जमीन पर स्थानीय ग्राम सभा का अधिकार निर्धारित किया है। ग्रामसभा अपने हित के निर्णय स्वयं ले सकती है। ग्रामसभा की अनुमति के बगैर ऐसे इलाकों में एक पेड़ भी नहीं काटा जा सकता और ना ही कोई खनन हो सकता है। सुप्रीम कोर्ट ने 1997 को समता मामले और 201 के नियमागिरी-वेदांता मामले में आदेश देते हुए आदिवासी इलाकों में ग्रामसभा का सर्वोपरि होना बरकरार रखा है। संविधान में अनुसूचित जनजातियों से संबंधित विशेष प्रावधान भारतीय संविधान में अनुसूचित जनजातियों की सुरक्षा संरक्षण, उन्नयन और विकास के लिए विशेष व्यवस्था की गई है। संविधान की पांचवीं और छठवीं अनुसूची में जनजातीय क्षेत्रों के प्रशासन और नियंत्रण संबंधी प्रावधान हैं। इसमें कहा गया है कि सामान्य क्षेत्रों के कानून अनुसूचित क्षेत्रों में लागू नहीं हो सकते। पांचवीं अनुसूचित के तहत स्वशासन की स्थापना करते हुए अनुसूचित क्षेत्रों के जल, जमीन और जंगल पर पूरा अधिकार आदिवासियों को ही दिया गया है।

इसमें ग्राम सभा को मान्यता देने के साथ-साथ उसे जंगल की जमीन बेचने और सरकारी अधिग्रहण संबंधी दिए गए हैं। इसके अलावा ग्राम सभा की अपनी भाषा, संस्कृति, पहनावा, रीति-रिवाज और बाजार की व्यवस्था तय करने का अधिकार भी दिया गया है। इन अधिकारों को आगे विस्तार देते हुए 1996 में पंचायत के प्रावधान (अनुसूचित क्षेत्रों पर विस्तार) अधिनियम 1996 यानी पेशा कानून बनाया गया। इसके द्वारा पांचवीं अनुसूची में मौजूद अधिकारों के साथ-साथ ग्राम सभा को परिभाषित किया गया। इसके अलावा जिले की प्रशासनिक व्यवस्था के लिए जिला स्वशासी परिषद को भी मान्यता मिली। विभिन्न पक्ष जनजातीय समूहों का कहना है कि कई मामलों में उनके दावों को गलत तरीके से खारिज कर दिया गया है। इनमें कई आदिवासी मुख्यधारा से कटे हुए हैं और सरकारी दस्तावेजों में भी उनका रिकॉर्ड मौजूद नहीं है। ना ही उनके पास आधिकारिक तौर पर मान्यता प्राप्त पहचान पत्र है। वहीं कई राज्यों में समुदायिक स्तर के दावों को मंजूर करने की रफ्तार भी बहुत धीमी है। इनमें कुछ मामले ऐसे हैं जिनमें जमीने आदिवासियों के नाम पर नहीं हैं। क्योंकि उन्हें वन संपदा पैतृक रूप में मिली हुई है। वहीं गैर आदिवासियों की वन भूमि पर आए कई दावे तीन पीढ़ियों से कब्जा नहीं होने के आधार पर खारिज किए गए हैं। इनमें कई लोग ऐसे हैं जिन्हें कागज पर तो जमीन दी गई है, लेकिन वास्तविक रूप से पट्टा नहीं दिया गया है। ऐसे में कब्जा नहीं होने की वजह से भी इनके दावे निरस्त हो गए हैं। साथ ही कानून में और अस्पष्टता और जटिलताओं के कारण भी कई लोग अपने दावे के सबूत पेश नहीं कर सके। वही खारिज करते हुए कई दावे ऐसे भी हैं जो ग्रामसभा द्वारा प्रस्तावित हैं। चूंकि ग्राम सभा अपनी अंदरूनी मामलों के लिए

सर्वोपरि है। इसलिए उसके द्वारा प्रस्तावित दावों पर भी सवालिया निशान लग गया है। जनजातीय समूहों का कहना है कि एनजीओ, उद्योगपतियों और वन अधिकारियों की सांठ—गांठ से उन्हें जमीन और जंगल के अधिकारों से वंचित किया जा रहा है। जबकि वे लोग जंगल वन्यजीवों और पर्यावरण से गहरे तौर पर जुड़े हुए हैं और इनकी रक्षा करते हैं। क्योंकि इनके लिए जल, जमीन और जंगल अस्तित्व का मामला है। विगत 28 फरवरी 2019 को केंद्र सरकार ने अपने हलफनामे में यह स्वीकार भी किया है कि वह कानून को गलत तरीके से परिभाषित करने के कारण बड़ी संख्या में दावे खारिज किए गए हैं। ज्यादातर आदिवासियों, वनवासियों में दावे दाखिल करने की प्रक्रिया को लेकर जागरूकता का अभाव है। कई मामलों में दावा करने वालों को उनके दावे खारिज किए जाने का कारण नहीं बताया गया है और वे उसके खिलाफ अपील नहीं कर पाए हैं। सरकार का कहना है कि बेहद गरीब और निरक्षर लोगों को अपने अधिकारों और कानूनी प्रक्रिया की जानकारी नहीं है। इसलिए उनकी मदद के लिए इसमें उदारता बरतनी चाहिए। इसी के मद्देनजर सरकार अब वन भूमि पर दावों की जांच फिर से कर रही है। वनों से बेदखली के संभावित परिणाम यदि वनों से बेदखली होती है तो इसका असर करीब 21 राज्यों के 22 लाख से ज्यादा आदिवासियों और वनवासियों पर पड़ सकता है। इसके बाद उन्हें न केवल अपनी जमीन छोड़नी पड़ेगी बल्कि जंगल से भी दूर जाना पड़ेगा। इससे लाखों आदिवासियों पर उनके घर उजड़ने के साथ—साथ रोजी—रोटी का खतरा भी पैदा हो सकता है। क्योंकि वे खेती और जंगल पर ही निर्भर हैं। कुछ महीने अगर वे खेती पर निर्भर रहते हैं तो कुछ महीने वनोउत्पादों पर साथी ही आदिवासी

संस्कृति, रीति—रिवाज, जीवनशैली और खान—पान, रहन—सहन सब कुछ जंगलों से ही जुड़ा हुआ है। ऐसे में गंभीर चिंता यह है कि जंगल से खदेड़े जाने पर आदिवासी न सिर्फ अपने परंपरागत निवास स्थल से वंचित हो जाएंगे बल्कि उनके जीवन का आधार ही छिन जाएगा। ऐसे में आदिवासियों वनवासियों का पुनर्वास और संरक्षण एक बड़ी चुनौती होगी। बेदखल हुए लोग अपनी जड़ों से उखड़ कर शहरी मजदूर बनने के लिए मजबूर हो जाएंगे। क्योंकि आदिवासियों की आदिम—संस्कृति का अस्तित्व वनों से ही जुड़ा हुआ है। इसलिए इस मामले को बेहद संवेदनशीलता के साथ देखने की जरूरत है। आगे की राह आजादी के 70 साल बाद भी आदिवासियों की स्थिति में बहुत बदलाव नहीं आया है। वे आज भी पीने के साफ पानी, शिक्षा और स्वारक्ष्य जैसी बुनियादी सुविधाओं से वंचित हैं। कॉर्पोरेट कंपनियों के जंगलों में आने के बाद कई बड़ी परियोजनाओं के चलते इनका विस्थापन हुआ है। लेकिन विस्थापन के बाद इनका उचित पुनर्वास नहीं किया गया। दूसरी तरफ कई गैर आदिवासियों ने इनके क्षेत्रों में जंगल की अवैध कटाई, वन्यजीवों का शिकार और अवैध खनन किया है। जिसका आरोप भी इन आदिवासियों पर ही मढ़ा गया है। वे वन माफियाओं, उद्योगों तथा जमीन पर कब्जा करने वालों से भी जूझ रहे हैं। इनके अलावा यह नक्सलवाद की भी समस्या से पीड़ित हैं। विडंबना यह रही है कि जिन पर कानून को न्यायसंगत ढंग से लागू करने की जिम्मेदारी है उनकी तरफ से भी ईमानदार सच्ची नहीं हुई। यहां तक कि संवैधानिक अधिकारों सहित वनाधिकार अधिनियम को लागू करने में प्रमुख एजेंसियों ने ज्यादातर इनके प्रति उदासीनता ही दिखाई है। इसलिए इस मामले में आदिवासियों के प्रति सहानुभूति पूर्ण

पैरोक्तर

रवैया अपनाने की जरूरत है। इसके लिए सरकार को व्यापक कदम उठाने होंगे। जिन दावों को अस्वीकार कर दिया गया है उनकी समीक्षा की जानी चाहिए। नए सिरे से दावों की जांच पड़ताल होनी चाहिए। जनजातीय समूहों की आपत्तियों और समस्याओं को समझते हुए उनका समाधान करने की जरूरत है। सरकार को बेदखल होने वाले लोगों को पुनर्वास को लेकर ठोस कार्यक्रम बनाने होंगे।

संदर्भ सूची :

1. आदिभूमि, प्रतिभा राय, भारतीय ज्ञानपीठ, 2001
2. धूणी तपे तीर, हरिराम मीणा, साहित्य उपक्रम, द्वितीय संस्करण
3. अरण्य में सूरज, अजित गुप्ता, समसामयिक प्रकाशन 2009
4. काला पादरी, तेजिंदर, साहित्य भंडार, इलाहाबाद
5. बिरसा मुंडा और उनका आन्दोलन (1872–1901), कुमार सुरेश सिंह, वाणी प्रकाशन
6. झारखण्ड उलगुलान के महानायक बिरसा मुंडा, डॉ. इग्नासिया टोप्पो (कुल्लू), 2002
7. भारत के आदिवासी चुनौतियां एवं संभानाएं, डॉ. जनक सिंह मीणा, डॉ. कुलदीप मीणा
8. करेंट अफेयर्स टुडे, दृष्टि पब्लिकेशन, नई दिल्ली
9. जनसत्ता (दैनिक अखबार) संपादक, मुकेश भरद्वाज

जिस घर में स्त्री जाति का अनादर होता हो, वहाँ से लक्ष्मी, धर्म और सुख का वास उठ जाता है।

— चाणक्य

एक अच्छी माता सौ शिक्षकों के बराबर होती है, इसलिए उसका हर हालत में सम्मान करना चाहिए।

— जार्ज हरबर्ट

नारी की उन्नति या अवनति पर ही राष्ट्र की उन्नति या अवनति आधारित है।

— अरस्तू

‘गुरुदेव के अंग’ के आधार पर शिक्षण प्रक्रिया की विवेचना

सुमित कुमार

सहायक आचार्य महामाया राजकीय

महाविद्यालय, शेरकोट बिजनौर

महान रचनाएं कालजयी होती हैं और महान रचनाकार की दृष्टि से कुछ भी बचता नहीं है। यह दृष्टि का ही फर्क है जो व्यक्ति को सामान्य और विशिष्ट में विभाजित करता है और यह दृष्टि किसी भी रचनाकार का अर्जित सत्य होती है। वह दृष्टि को लेकर पैदा नहीं होता बल्कि जीवन के संघर्षों और परिस्थितियों से उपहार स्वरूप पाता है। कबीर भी महान इसीलिए हैं क्योंकि उनके पास भी एक ऐसी दृष्टि है जिससे कुछ भी छिपा नहीं है और इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि इस दृष्टि से वह जो कुछ देख पाते हैं उसे साफ साफ कहने का साहस भी उनमें है। कबीर को यह दृष्टि सतगुरु की महिमा से प्राप्त हुई क्योंकि एक गुरु ही अपने शिष्य को उस मार्ग पर अग्रसर करता है जिस पर चलकर वह एक जीवन दर्शन और दृष्टि प्राप्त कर पाता है। ‘सतगुरु की महिमा अनंत अनंत किया उपकार लोचन अनंत उघाड़िया, अनंत दिखावण हार’ कबीर साहित्य में सबसे ज्यादा गहराई और प्रतिबद्धता उनके गुरु भक्ति संबंधित पदों में दिखती है। कबीर स्पष्ट स्वीकार करते हैं कि वह जो कुछ भी हैं उसमें उनके गुरु का सर्वाधिक योगदान है। गुरु और शिष्य के संबंधों का वर्णन करते हुए कबीर जिन मूल्यों की बात करते हैं वह इतने प्रासंगिक हैं कि आज काल और परिस्थिति बदल जाने के बाद भी उनका महत्व ज्यों का त्यों बना हुआ है। वास्तव में कबीर का महत्व इसी में है कि वह कभी पुराने नहीं लगते हैं। आज जबकि गुरु की हैसियत कम होती जा रही है, शिक्षा विक्रय की वस्तु बन गई है और आचरण की पवित्रता जैसे विचार उपभोक्तावादी

संस्कृति के सामने दीन हीन नजर आने लगे हैं, कबीर की सखियाँ याद दिलाती हैं कि हर दौर में सच्चे मार्गदर्शक की जरूरत होती है। उसका रूप आकार चाहे युग के अनुसार कितना भी बदल जाए कबीर कहते हैं कि गुरु के मिले बिना शिक्षा अपूर्ण ही रहती है। “कबीर सतगुर ना मिल्या, रही अधूरी सीप स्वांग जती का पहरि करि, घरि घरि माँगे भीष。” गुरु इतने महत्वपूर्ण क्यों हैं? भारतीय पौराणिक कथाओं में भी गुरु भक्ति और गुरु प्रेम के असंख्य उदाहरण देखने को मिलते हैं। राम और कृष्ण ईश्वर के अवतार माने जाते हैं। ईश्वर तो सर्वज्ञ है लेकिन फिर भी वे क्रमशः गुरु वशिष्ठ और गुरु संदीपनी के आश्रम में शिक्षा लेने जाते हैं, क्यों? हमारी भारतीय संस्कृति विविधतापूर्ण संस्कारों और चिंतनों के सम्मिश्रण के परिणाम स्वरूप विकसित हुई है। यहां श्रुति की परंपरा रही है जो गुरुकुलों में गुरु शिष्य परंपरा में ज्ञान को सुरक्षित रखने का माध्यम थी। ज्ञान पीढ़ी दर पीढ़ी गुरु से शिष्यों में स्थानांतरित होता रहा है। गुरु के पास हजारों वर्षों का अनुभव संचित होता है और यही ज्ञान वह अपने शिष्यों को देता है। शिष्य होना तो साधना है ही, सतगुरु होना उससे भी बड़ी साधना है। इसीलिए हमारी परंपरा में गुरु को इतना अधिक महत्व दिया गया है। कबीर की साखियों को पढ़ते हुए यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वह केवल ‘गुरु’ नहीं बल्कि ‘सतगुरु’ को महिमामंडित करते हैं। ‘सतगुरु’ होना आसान नहीं है। इसके लिए संयम, व्रत, निष्ठा और प्रेम को धारण करना होता है। गुरु का संबंध साधारण व शास्त्रीय ज्ञान से है वहीं सदगुरु निस्वार्थ भाव से जीवन

के गहनतम रहस्यों का ज्ञान देता है। यदि गुरु सतगुरु नहीं हैं तो वह अपना और शिष्य दोनों का नाश कर देता है दृश्य “जाका गुर भी अंधला, चेला खरा निरंध अँधा अँधा ठेलिया, दून्ध कूप पड़त” कुरुक्षेत्र की रणभूमि में अर्जुन ने शस्त्र रख दिए होते यदि कृष्ण जैसे दूरदर्शी गुरु उसके सारथी ना होते। गुरु वास्तव में सारथी की भाँति मार्ग प्रशस्त करते हैं। कबीर का मानना है कि एक सच्चे गुरु को अपने शिष्य को इतना समर्थ बनाना चाहिए कि वह अपने मार्ग की खोज स्वयं कर पाए। केवल शास्त्रों द्वारा बताए गए मार्ग पर चलकर परम सत्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। जिस प्रकार बुद्ध ने कहा था कि ‘आत्म दीपो भवः’ उसी प्रकार सतगुरु शिष्य पर कोई मार्ग थोपते नहीं हैं बल्कि उसके हाथ में दीपक देकर स्वयं अपना मार्ग खोजने की प्रेरणा देते हैं। “पीछे लागा जाइ था, लोक वेद के साथि आगे थे सतगुरु मिल्या, दीपक दीया हाथि” समकालीन समय में प्रचलित शिक्षा पद्धति कबीर के समय में नहीं थी। औपनिवेशिक भारत में शिक्षा प्रक्रिया में ढांचागत बदलाव हुए लेकिन शिक्षण के जो मूलभूत आधार हैं, वह शाश्वत हैं और कभी नहीं बदलते। कबीरकी साखियां इन्हीं मूलभूत प्रश्नों को सामने रखती हैं कि गुरु को कैसा होना चाहिए, शिष्य को कैसा होना चाहिए और उनके बीच किस प्रकार का संबंध होना चाहिए। आज के समय में स्थिति यह है कि शिक्षकों के लिए शिक्षण मात्र धन कमाने का साधन है और छात्रों के लिए शिक्षक ऐसा व्यक्ति है जिससे धन के बदले में शिक्षा खरीदी जा रही है। भारतीय शिक्षा पद्धति का आदर्श यह कभी नहीं रहा है। गुरु और शिष्य के बीच जब लालच आ जाता है तो दोनों ही को डुबो देता है। कबीर उस समय में ही है इस स्थिति को देख पा रहे हैं। वह कहते हैं “ना गुर मिल्या न सिश भया,

लालच खेल्या डावदून्ध बूढ़े धार मैं, चढ़ि पाथर की नाव” कबीर साखी के माध्यम से चेतावनी दे रहे हैं कि युग कोई भी हो, यदि शिक्षण प्रक्रिया पर उचित ध्यान नहीं दिया गया तो वह गुरु, शिष्य और पूरे समाज के लिए विघ्वंसकारी साबित होगी। अभी कुछ सालों में परीक्षा से पूर्व पेपर आउट कराने और परीक्षाओं में नकल कराए जाने की घटनाएं बहुत बढ़ी हैं। यह घटनाएं सवाल उठाती हैं कि आखिर हम अपने छात्रों, जो कि कल देश के हर क्षेत्र में जिम्मेदारी उठाने वाले हैं, उन्हें किस तरफ ले जा रहे हैं? यदि आज अनैतिक ढंग से लोग पद और प्रतिष्ठा हासिल करेंगे तो उनसे कैसे उम्मीद की जा सकती है कि वह कल अपने पद और प्रतिष्ठा का अनैतिक प्रयोग नहीं करेंगे? दूसरी बात यह भी है कि इस तरह से पद पाने वाले लोग कितने समर्थ और सक्षम होंगे? हमें भूलना नहीं चाहिए कि हमें दुनिया के ऐसे देशों से मुकाबला करना है जो अपनी शिक्षण प्रक्रिया को लेकर ना केवल सजग हैं बल्कि गंभीरता से उसे लागू भी कर रहे हैं। भारतीय समाज और शिक्षा पद्धति में डिग्री और मेरिट को ही शिक्षा का लक्ष्य माना जाता रहा है। लेकिन वास्तविकता इसके इतर है। यदि केवल किताबी शिक्षा ही मूल्यों का निर्माण कर पाती तो आज कई पढ़े लिखे लोग, जिनमें डॉक्टर, इंजीनियर आदि शामिल हैं, विभिन्न आतंकवादी संगठनों से जुड़े ना होते। इस प्रकार की विसंगतियों की बड़ी वजह यह है कि हम अपने छात्रों को न तो हमारी संस्कृति में निहित नैतिक मूल्य सिखा पा रहे हैं और न ही उनके मन में विश्वास पैदा कर पा रहे हैं। हमारी युवा पीढ़ी या तो भ्रम में जी रही है या संशयशील है। यह संशय मनुष्य के मन में भय पैदा करता है और वह उसे स्थितप्रज्ञ नहीं रहने देता इसलिए संशय को मारना सबसे पहले जरूरी है। महर्षि

अरविंद का भी मानना था कि शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति में यह विश्वास जागृत करना है कि मानसिक तथा आत्मिक दृष्टि से वह पूर्ण सक्षम है। कबीर ने लिखा है “संसै खाया सकल जुग, संसै किनहुँ न खद्धजे बेधें गुर अष्टिरां, तिनि संसा चुणि चुणि खद्ध” शिक्षा अथवा ज्ञान प्राप्ति द्विपक्षीय व्यापार है अर्थात् गुरु और शिष्य दोनों का ही योग्य होना जरूरी है। यदि गुरु योग्य है तब भी शिष्य ही यदि अयोग्य और दम्भी है सब गुरु भी उसका कुछ नहीं कर सकता। यह ठीक वैसे ही है कि यदि कपड़ा पहले ही इतना मैला और फटा हुआ है तो फिर उस पर मजीठे का रंग नहीं चढ़ सकता “सतगुर बपुरा क्या करै, जे सिषही माँहे चूकभावैं त्यू प्रमोधि ले, ज्यूं बंसी बजाई फूक सतगुरु मिल्या त का भयां, जे मनि पाड़ी भोलशपासि बिनंठा कप्पड़ा, क्या करै बिचारी चोल” इसलिए जरूरी है कि शिष्य का अंतःकरण निर्मल और पवित्र हो। विद्या प्राप्ति को इसीलिए साधना कहा गया है। शिक्षक का सबसे महत्वपूर्ण कार्य यह है कि वह अपने छात्र में चित्त एकाग्र करने का अभ्यास डालें। मन से सेवा करने का भाव मनुष्य को बहुत सुख देता है और सच्ची सेवा का यह भाव तभी जागृत हो सकता है जब व्यक्ति स्वयं के अतिरिक्त दूसरे के लिए भी सोचे। छात्र के चरित्र का विकास इस प्रकार करना चाहिए कि वह ‘मैं’ और ‘तू’ के भाव से ऊपर उठ सके। कबीर भी कहते हैं कि सतगुरु जब ज्ञान प्रदान करते हैं तो प्रेम की ऐसी वर्षा होती है कि उसमें ‘मैं’ का भाव तिरोहित हो जाता है। वे स्पष्ट कहते हैं कि जब तक यह ‘मैं’ का भाव समाप्त नहीं होता तब तक ईश्वर का मिलन तथा आत्मसाक्षात्कार संभव नहीं है। और गुरु इसीलिए ईश्वर तुल्य है क्योंकि वह यह ‘अहम्’ भाव मिटाकर आत्मसाक्षात्कार कराता है। “गुरु गोविंद तौ एक हैं, दूजा यह आकार आपा मेट

जीवित मरै, तो पावे करतार” कबीर ने अन्यत्र भी कहा है“ जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहिंसब अंधियारा मिटि गया, जब दीपक देख्या माहि” आज जब की शिक्षा को एक वस्तु (कमोडिटी) की तरह प्रयोग किया जाने लगा है, ऐसे में यह प्रश्न और अभी अधिक प्रसंगानुकूल हो उठा है कि क्या वास्तव में गुरु के ऋण से उऋण हो पाना संभव है? यदि शिक्षक अपने कर्म, वचन और मन में सच्चा है तब शिष्य के लिए उसके ऋण को उतार पाना संभव नहीं होगा। वास्तव में एक महान शिक्षक किसी प्रकार की गुरु दक्षिणा की इच्छा रखता भी नहीं है और यदि रखता भी है तो वह बहुत ही सात्त्विक प्रकार की होती है जिसमें लालच का लेशमात्र भी नहीं होता और उससे समाज और संस्कृति का भला ही होता है। कबीर भी कह रहे हैं कि “राम नाम के पटतरे, देबे कौ कछु नाहिंशक्या ले गुर संतोषिए, हौंस रही मन माहि” मनुष्य में अनंत ज्ञान, शक्ति और आनंद का भंडार है। ज्ञान और शक्ति साथ साथ चलते हैं और आनंद इन्हीं दोनों की उपस्थिति में निहित है। अविद्या मनुष्य को उसके इस वास्तविक स्वरूप से दूर ले जाती है। एक अच्छे शिक्षक का यही उद्देश्य होता है कि वह अपने शिष्य को उसके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान कराये। यह बात कबीर के समय में जितनी प्रासंगिक और सत्य थी उतनी ही आज भी है। कबीर जब लिखते हैं कि “माया दीपक नर पतंग, भ्रमि भ्रमि इवै पड़ंत कहै कबीर गुरु ज्ञान थैं, एक आध उबरंत” तब वे उसी माया की बात कर रहे हैं जिसने मनुष्य के वास्तविक स्वरूप को ढक रखा है और वह स्वयं मनुष्य के सामने भी स्पष्ट नहीं है। जब मनुष्य को आत्मसाक्षात्कार हो जाता है तो माया का यह पर्दा हट जाता है और मनुष्य ज्ञान व शक्ति से संपन्न हो कर

पैरोक्तर

आनंद की प्राप्ति करता है। इस प्रकार कबीर जिस शिक्षण प्रक्रिया की बात 'गुरुदेव को अंग' में कर रहे हैं वह शाश्वत प्रक्रिया है। समय के साथ इस के ऊपरी आवरण में तो परिवर्तन आया है लेकिन आंतरिक व्यवस्था वही है। आज आवश्यकता इस बात की है कि समकालीन शिक्षक और शिष्य कबीर की साखियों के भावार्थ के साथ उनके मर्म को भी समझें और उनके पीछे जो पूरा एक दर्शन छिपा है उसे जीवन में स्थापित करने का प्रयत्न करें। तभी जीवन में वास्तविक सफलता प्राप्त की जा सकती है क्योंकि कबीर की साखियां आत्मसाक्षात्कार के मार्ग का पता बतलाती हैं और सफलता की ओर जाने वाले मार्ग का द्वार खोलने की चाही आत्म साक्षात्कार ही है।

संदर्भ सूची :

1. कबीर ग्रंथावली, श्याम सुंदर दास, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, संस्करण—2011
2. कबीर, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, तेर्झसवाँ संस्करण— 2016
3. कबीर के आलोचक, डॉ. धर्मवीर, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय संस्करण: 1998 ई.
4. संत कबीर, डॉ. रामकुमार वर्मा, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, संस्करण: 1954
5. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारणी सभा, काशी, संस्करण: संवत् 2022

शिक्षा तो एक साधनमात्र है। यदि उसके साथ सच्चाई, दृढ़ता, शान्ति आदि गुणों का सम्मिश्रण नहीं होता तो वह शिक्षा रुखी रहती है और लाभ के बदले कभी—कभी हानि पहुंचाती है। शिक्षा का उद्देश्य पैसा कमाना नहीं, बल्कि अच्छा बनना और देश सेवा करना है। यदि यह उद्देश्य सफल न हो तो शिक्षा पर किये गये खर्च को बेकार समझ सकते हैं।

— महात्मा गांधी

शिक्षा विविध जानकारियों का ढेर नहीं है, जो तुम्हारे मस्तिष्क में दूँस दिया गया है और जो आत्मसात हुये बिना वहां आजन्म पड़ा रहकर गड़बड़ मचाया करता है। हमें उन विचारों की अनुभूति कर लेने की आवश्यकता है जो जीवन निर्माण, मनुष्य निर्माण तथा चरित्र निर्माण में सहायक हों। यदि तुम केवल पाँच ही परखें हुए विचार आत्मसात कर उनके अनुसार अपने जीवन और चरित्र का निर्माण कर लेते हो, तो तुम एक पुरे ग्रंथालय को कंठस्थ करने वाले की अपेक्षा अधिक शिक्षित हो।

—स्वामी विवेकानन्द

नागफांस में फंसा जनजीवन और उसका यथार्थ

श्वेता बर्णवाल (शोध छात्रा)

हिंदी विभाग

कथाकार अनंत कुमार सिंह का हाल ही में एक उपन्यास प्रकाशित हुआ है 'नागफाँसलिए घट भीतर' अनन्त कुमार सिंह समय-समय पर साहित्य के विभिन्न पहलुओं पर लिखते रहे हैं, जो न केवल मौलिक होते हैं, बल्कि विचारों को जगाने वाले भी होते हैं। इस उपन्यास में उपन्यासकार ने विकास के नाम पर प्राकृतिक संसाधनों की लूट, बेशकीमती जंगलों और जमीनों पर अवैध कब्जा जमाने, आदिवासियों की बेदखली, अधिकारों एवं जनसंघर्षों तथा आज के समाज में युवा वर्ग की बेरोजगारी के दास्तान को बयाँ किया है। 'नागफाँस लिए घट भीतर' उपन्यास में लेखक ने आदिवासी परिवेश के उन अनछुए पहलुओं को उद्घाटित किया है, जिन्हें कभी मुख्यधारा के लोगों के द्वारा सामने लाने का प्रयास ही नहीं किया गया है। इन आदिवासियों को न केवल सामाजिक रूप से उपेक्षित किया गया, अपितु स्वाधीनता संग्राम में इनके योगदान को भी नजरअंदाज किया गया। इसने लेखक ने आदिवासी क्षेत्र के उस भू-भाग को प्रस्तुत किया है, जो पाँच हजार वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में फैला टीकमगढ़ का आदिवासी गांव बाघमारा गांव है। यह गांव अपनी तमाम कुरुपताओं एवं शोषण की अमानवीय कारनामों के साथ भूख से तड़पता, कसमसाता करवटें बदलने को मजबूर है। लेखक के शब्दों में:- "आज 21वीं सदी में भी मानव जाति की ऐसी स्थिति! और उधर हमारे भाग्य विधाता चैन की नींद सो रहे हैं ऐसी अमानवीयता?"¹ आज इसे 21वीं का भारत बताया जा रहा है। उसका एक बड़ा भू-भाग आदिवासी लोगों का उपेक्षित संसार

पश्चिम बंग राज्य विश्वविद्यालय

है। एक रिपोर्ट के अनुसार:- "आदिवासी सम्पूर्ण भारत में हैं। इनकी संख्या लगभग आठकरोड़ है। यह देश की आबादी का 7.8 प्रतिशत है। पूरे देश में आदिवासी समुदायों की संख्या 600 से अधिक हैद्य देश के 72 प्रतिशत वन और प्राकृतिक संसाधन, 90 प्रतिशत कोयला खदान, 80 प्रतिशत खनिज सम्पदा आदिवासी इलाकों में है, फिर भी 85 प्रतिशत आदिवासी गरीबी रेखा के निचे गुजरबसर कर रहे हैं। देश के कुल बंधुआ मजदूरों में 83 प्रतिशत मजदूर आदिवासी हैं"² उपन्यास यह बताता है कि आदिवासी बहुत भोले एवं सीधे स्वभाव के होते हैं। आर्यों ने इनका शोषण कर इन्हें बेगार बनने को बाध्य किया है। इन आदिवासियों को हमेशा से शिक्षा से वंचित किया जाता रहा है, जिससे ये पूंजीपति वर्ग या राजनीति की कुटनीतियों को समझ न पाएं देखा जाय तो शिक्षा का अभाव ही इन आदिवासियों को अंधविश्वास, रुद्धिवादिता और धर्म-भीरुता के कुएं में भी धकेलता है। बाघमारा गांव के आदिवासी के जीवन में हो रहे विभिन्न परिवर्तनों को पूरी मार्मिकता एवं संवेदनशीलता के साथ उपन्यासकार ने चित्रित किया है:- "पहले जंगल ही हमारा माई- बाप था। उसको उजाड़ने, तहस-नहस करने और हथियाने में लगी है सरकार और उसके कारिन्दे"³ गौरतलब है कि वैश्वीकरण के इस युग में पूंजीवाद ने छोटे-छोटे गृह उद्योगों को निगल लिया है और इन छोटे-छोटे उद्योगों को निगलने वाली पूंजीपतियों की फैक्ट्री ही भूमि, जल और वायु प्रदूषण फैलाने में आगे है। दूसरी ओर अधिक मुनाफा

कमाने के क्रम में विभिन्न तरह के हानिकारक रासायनिक पदार्थों की मिलावट बिमारियों को भी बढ़ा रही है। कुल मिलाकर पूँजीवादी और राजनीति व्यवस्था पूरी मानवीयता के आस्तित्व के लिए खतरे का संकेत है। इस कथन की पुष्टि के लिए उपन्यास का निम्नलिखित कथन ध्यातव्य है:-“केतना डुकरा-डुकरी और मोड़ा-मोड़ी बिलट-बिलट कर मर गयाद्य अब न तो जंगल में लज्जत है, न खेत में दाना”⁴ आदिवासी शुरू से ही जंगलों पर निर्भर हैं, किन्तु जंगलों की अंधाधुंध कटाई व कानून इन्हें रोजी-रोटी नहीं दे पा रहे हैं। परिणामस्वरूप ये आदिवासी मजबूर होकर समतल मैदानों में मजदूरी करके उबड़-खाबड़ बंजर जमीन को जोतकर उपजाऊ बनाते हैं। यहीं से समस्याएँ इनके जीवन में दखल देने लगती हैं द्य गैरआदिवासी, बनिया, साहूकार इनकी जमीन किसी भी तरह हासिल करना चाहते हैं। पटवारी, तहसीलदार आदि हर तरह से इनका जमकर शोषण करते हैं। इस प्रकार पुलिस से पिटते, साहूकारों से लुटते एवं प्रशासन द्वारा ठगे गये मजबूर आदिवासी जब दबाव, अत्याचार और शोषण को बर्दाशत नहीं कर पाते तब प्रतिरोध या प्रतिशोध के लिए उतारू हो जाते हैं। बाघमारा गांव के आदिवासियों के इस प्रतिरोध को इस उपन्यास में उपन्यासकार ने गयासी पात्र के माध्यम से दिखाया है:-“साले भागते हो कि नहीं। सेठजी ने कहा और तत्काल ही बेचारगी का प्रतीक गिडगिराता गयासी एकाएक झपट पड़ा और सेठजी की गर्दन को दोनों हाथों में पकड़ लिया”⁵ भारतीय लोकतांत्रिक व्यवस्था में राजनीति के बदलते स्वरूप और उससे प्रभावित आदिवासियों के संत्रास और शोषण की गहराई को नापते हुए उनके पहाड़ी जीवन की विवशताओं तथा चुनावी राजनीति की विसंगतियों को उद्घाटित किया गया है। इसके अलावा

गैर आदिवासियों के द्वारा किये गये क्षेत्रवाद, जातिवाद, भ्रष्टाचार, संवेदनहीनता, नैतिक पतन, दूराचार जैसे पहलुओं को भी उपन्यासकार ने अभिव्यक्त किया है। यह उपन्यास न केवल आदिवासियों के अशिक्षा, भुखमरी, गरीबी और शोषण को सामने लाता है, बल्कि जमींदार, बनियों की इन आदिवासियों को निरन्तर अपना दास बनाने की मानसिकता को भी उजागर करता है:-“दरअसल सेठ लोग उनके यहाँ से थोक खरीद लेते हैं और ग्राहकों से दुगुना-तिगुना दाम वसूल करते हैं।”⁶ गौरतलब है कि आदिवासी लोग अपनी गरीबी, बेरोजगारी, भुखमरी तथा अपनी दयनीय आर्थिक स्थिति के कारण ऋण लेने को मजबूर होते हैं, आदिवासियों के लिए ऋणग्रस्तता की समस्या सबसे जटिल है। जिसके कारण आदिवासी लोग साहूकारों के शोषण का शिकार होते हैं। दूसरी ओर जैसा कि हम सभी जानते हैं कि हजारों वर्षों से जंगलों और पहाड़ी इलाकों में रहने वाले आदिवासियों को हमेशा से दबाया और कुचला जाता रहा है, जिससे उनकी जिन्दगी अभावग्रस्त ही रही है। इनका तथाकथित सभ्य कहे जाने वाले लोगों से न के बराबर ही सम्पर्क रहा है। केन्द्र सरकार आदिवासियों के नाम पर हर वर्ष हजारों करोड़ रुपये का प्रावधान बजट में करती है द्य इसके बाद भी छः से सात दशकों में भी उनकी आर्थिक स्थिति तथा जीवन स्तर में कोई परिवर्तन नहीं आया है। उपन्यास का यह वाक्य इस कथन की पुष्टि करता है:-“एक कोस दूर से पानी लाकर प्यास बुझाते हो अपना और मेरा भी मैं पानी के बिना मर ही जाताद्य”⁷ कहीं न कहीं आदिवासी समस्याओं का महत्वपूर्ण तत्व गरीबी से जुड़ा है। भूमि से बेदखली हो या ऋणग्रस्तता सभी के पीछे गरीबी ही मुख्य कारण है। पूरे देश के लिए गरीबी एक अभिशाप है। हमारे यहाँ गरीबी का स्तर ये है

कि बहुत से लोगों को बमुशिकल से एक वक्त का खाना मिल पता है। यह हालात आदिवासियों के लिए और भी सोचनीय हैः—“गुरुजी ! टेमन भात कहाँ खाता है? एक दिन भी नहीं। कभी नहीं टेमन तो लठारा की रोटी और तूत की चटनी खाता है।”⁸ गरीबी की इस स्थिति के लिए बहुत से कारण जिम्मेदार हैं। जिसमें आदिवासी स्वयं तो हैं ही, पर देश की सामाजिक और राजनीतिक हालात उससे कहीं ज्यादा इसके दोषी हैं। देश में ‘गरीबी हटाओ’ जैसी योजनाएँ बनीं पर उसका क्रियान्वयन ठीक से नहीं हो पाया। दूसरी ओर राज्य सरकार ने भी गरीबी कम करने के लिए भूमि सुधार, कृषिगत आय और रोजगार बढ़ाने की दृष्टि से शिक्षा सम्बन्धी कई योजनायें चलायी, लेकिन उसे भी पूर्ण रूप नहीं दिया जा सका। इसकी पुष्टि उपन्यास का निम्नलिखित वाक्य करता हैः—“आदिवासियों के विकास, उत्थान और बेहतरी की कई योजनायें हैं, पढ़ने और सुनने के लिए। जमीन पर ढाक के पात”⁹ आज जिस समाज में समाचार पत्र, रेडियो, टेलीविजन आदि जैसे संचार माध्यमों का अभाव हो वहाँ का विकास स्वतः ही धीमा पड़ जाता है। यहाँ कभी सरकार के प्रयास की भी है, जिन्होंने इन बातों पर प्रभावी ढ़ंग से विचार नहीं किया है। हालांकि इधर कुछ वर्षों से आदिवासी क्षेत्रों में संचार माध्यमों का विकास हुआ है, किन्तु वह पर्याप्त नहीं हैं। इस उपन्यास में आदिवासी से सम्बंधित जिन समस्याओं पर बात की गई है, उनमें ऋणग्रस्तता, भूमि से बेदखली, स्वास्थ्य आदि हैं। इसके अलावा आदिवासी समाज की एक और समस्या है— गरीबी, जो सही अर्थों में बेरोजगारी से जुड़ी हुई है। यह समस्या सिर्फ आदिवासी समाज की ही नहीं बल्कि देश की सबसे बड़ी समस्या है। अगर समय रहते इसका समाधान नहीं हुआ तो विकास की सारी

उपलब्धियाँ बेकार साबित होंगी। यह समस्या किसी विशेष समाज तक ही सीमित नहीं रह सकती बल्कि यह पूरे देश से जुड़ा मसला है। इस समस्या के साथ आर्थिक, सामाजिक विकास के सारे महत्वपूर्ण प्रश्न जुड़े हुए हैं। इस सन्दर्भ में उपन्यास का यह वाक्य ध्यातव्य हैः—“इस आदिवासी क्षेत्र में एक एम० ए० पास बेरोजगार युवक किसी स्वयंसेवी संस्था के काम से जुड़कर जाता है। वह वहाँ की आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक स्थितियों को देख— समझाकर आजादी पूर्व की जद्दोजहद को झेलते भूखे, बीमार, अशिक्षित आदिवासियों के लिए कुछ करने का संकल्प लेता है।”¹⁰ इस प्रकार उपन्यास में आदिवासी समाज शिक्षा, ज्ञान, अधिकार और सामाजिक लोकतंत्र से कोसो दूर है। आधुनिक जीवन की सूख—सुविधाओं से अनजान ये आदिवासी लोकतंत्र की विफलता को बयाँ करते हैं। ये शहरी और आधुनिक सभ्यता के नजदीक आते हैं, और अत्याचार, शोषण, जातिभेद के शिकार होकर अपनी ही पहाड़ी सभ्यता को सहज—सरल मानकर वापस वहाँ जीवन जीने को विवश होते हैंद्य वस्तुतः उपन्यासकार ने इस उपन्यास में सहरिया आदिवासी के संतापों और शोषण की गहराई मापने की कोशिश के साथ शोषण के विरुद्ध उठती चिनगारी को अभिव्यक्त किया है, और यह बताने का प्रयास किया है कि ये आदिवासी दशकों से लोकतंत्र की छाया में भी शोषित जीवन जीने को मजबूर हैं। कहा जा सकता है कि आदिवासी जीवन की ज्वलंत समस्याओं पर केंद्रित अनंत कुमार सिंह का यह उपन्यास हिंदी कथा साहित्य को विकसित करने में अपनी भूमिका पूर्णतया सफल होगा।

सन्दर्भ ग्रन्थ :

1. अनंत कुमार सिंह, नांग फांस लिए घाट भीतर, पृष्ठ संख्या— 26

पैरोक्तर

2. डॉ. देवसरे, डॉ. खराटे, समकालीन हिंदी उपन्यासों में आदिवासी विमर्श, विद्या प्रकाशन, कानपुर, संस्करण: 2013, भूमिका से
3. अनंत कुमार सिंह, नांग फांस लिए घाट भीतर, दीप प्रकाशन, दिल्ली— 32, पृष्ठ संख्या— 40
4. वही, पृष्ठ संख्या— 40
5. वही, पृष्ठ संख्या— 99
6. वही, पृष्ठ संख्या— 46
7. वही, पृष्ठ संख्या— 40
8. वही, पृष्ठ संख्या— 35
9. वही, पृष्ठ संख्या— 25
10. वही, भूमिका से

**ज्ञान धन से उत्तम है
क्योंकि धन की तुम्हें
रक्षा करनी पड़ती है
मगर ज्ञान तुहारी रक्षा
करता है।**

— स्वामी विवेकानन्द

हजारों साल बना समझदारी
के बिना जीने से बेहतर है,
एक दिन समझदारी
के साथ जीना।

— गौतम बुद्ध

ओमप्रकाश वाल्मीकि के साहित्य का समाजशास्त्रीय आलोचना का स्वरूप

नारायण दास (शोधार्थी)

विद्यासागर विश्वविद्यालय, प. बंगाल

समाजशास्त्रीय आलोचना की बात है तो समाजशास्त्र और साहित्य का समाजशास्त्रीय प्रकरण पर थोड़ी सी चर्चा अनिवार्य हो जाता है। समाजशास्त्र सामाजिक जीवन का वैज्ञानिक अध्ययन है। इसलिए समाजशास्त्र में उन शब्दों को विशेष महत्व दिया जाता है। जिनकी सहायता से एक विशेष समाज की संरचना, व्यक्तियों के आपसी संबंधों, मानवीय व्यवहारों को प्रभावित करने वाली दशाओं तथा सामाजिक संगठन को व्यवस्थित रूप से समझा जा सके।

समाजशास्त्र हमें अपनी सामाजिक संरचना, अपने सामाजिक संस्थाओं, सामाजिक परिवर्तन की प्रवृत्ति और मानव व्यवहारों पर इनके प्रभाव से परिचित कराना होता है। ऐसा समाजशास्त्रीय विवेचना के लिए करते हैं; उन्हें समाजशास्त्र की मौलिक अवधारणा कहा जाता है लेकिन साहित्य के समाजशास्त्र वह है जो समाजशास्त्र के इतिहास से जुड़ा हुआ है, जिसे अध्ययन करने पर पता चलता है अब तक का समाजशास्त्र और साहित्य के समाजशास्त्र का विकास लगभग समान्तर हुआ है। साहित्य का समाजशास्त्र वह है जिसे समाजशास्त्र की एक शाखा माना गया है या फिर उसे एक स्वतंत्र साहित्य विधा के रूप में देखते हैं। लेकिन समाजशास्त्री उसे समाजशास्त्र की एक ब्रांच ही समझते हैं तथा उसे ज्ञान के समाजशास्त्र के तहत रखते हैं। मगर साहित्यकारों या साहित्य चिंतकों ने उसे स्वतंत्र साहित्य की विधा मानते हैं। इसी कारण वे पहले विचार को समाजशास्त्र का एक रूप मानते हैं तो दूसरी विचारधारा को साहित्यिक आलोचना का प्रकार मानते हैं। यहाँ

कहा जा सकता है कि समाजशास्त्रीय भले ही साहित्य को समाजशास्त्र की एक शाखा मानते हैं, लेकिन असल में यह समाजशास्त्र से स्वतंत्र होकर एक साहित्य विधा के रूप में उभरा है। यही कारण है कि कोई उसे साहित्य का समाजशास्त्र कहें या साहित्यिक समाजशास्त्र कहें या साहित्य समाजशास्त्रीय आलोचना कहें, इनमें कोई खास अंतर दिखाई नहीं देता है, क्योंकि साहित्य का जुड़ाव समाज से है। समय के साथ साहित्यकारों ने अपने—अपने समय के समाज को साहित्य में प्रस्तुत किये हैं। चाहे वह काल्पनिक हो या यथार्थ। लेकिन वर्तमान हमेशा तत्परता से यथार्थ के साथ खड़े रहते हैं। यहाँ कुछ विद्वानों का समाजशास्त्र की परिभाषा को देकर स्पष्ट करना चाहूँगा।

प्रोफेसर गिन्सबर्ग के अनुसार “समाजशास्त्र मानवीय अंतःक्रियाओं एवं अंतःसंबंधों उनकी दशाओं एवं परिणामों का अध्ययन है।”¹

सिमल के अनुसार “समाजशास्त्र मानव व्यवहार का अध्ययन करता है यह उन नियमों को जानने का प्रयत्न करता है जो मानव व्यवहार को प्रभावित करते हैं, इसलिए नहीं कि वे उनके सुबोध व्यक्तिगत अस्तित्व का परिचय देते हैं, अपितु इसलिए कि वे मनुष्य के द्वारा समूह बनाये जाने तथा ऐसे समूहों के कारण अन्तःसंबंधों का प्रभाव डालते हैं।”²

डॉ० मैनेजर पाण्डेय ने अपनी पुस्तक “साहित्य समाज की भूमिका में तेन की बातों को दर्शाएँ हैं। तेन के चिन्तन में उनकी मानवतावादी चेतना अत्यंत प्रबल है। उनके

अनुसार समाज, सभ्यता, संस्कृति, कला, साहित्य और भाषा आदि को अध्ययन का लक्ष्य है मनुष्य का ज्ञान। अंग्रेजी साहित्य के इतिहास की भूमिका में उन्होंने लिखा है कि हम दस्तावेजों का अध्ययन मनुष्य को जानने के लिए करते हैं। मिथक माला और भाशा को कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। महत्वपूर्ण है उनके पीछे वह मानव समुदाय जो अपनी आवश्यकता के और विवेक के अनुसार कल्पनाओं और शब्दों को संयोजित करता है।¹³ साहित्य का समाजशास्त्र का विकास साहित्य के आलोचकों ने किया है न कि विशुद्ध समाजशास्त्रीयों ने तेन, लिओ आवेंथल लूसिएं गोल्डमान, मिशेल जेराफा और रेमण्ड विलियम्स का योगदान किसी भी समाजशास्त्री बहुत अधिक है।

यहाँ मैं प्रो० गिन्सबर्ग के समाजशास्त्र की परिभाषा पर ध्यान आकर्षित करते हुए आत्मकथा 'जूठन' की कुछ पंक्तियों के माध्यम से समाजशास्त्रीय विचारधारा पर प्रकाश डालना चाहते हैं। "चौधरी जी, ईब तो सब खाणा खा के चाले गए कृ म्हारे जातको (बच्चों) कू भी एक पतल पर घर के कुछ दे दो। वो बी तो इस दिन का इंतजार कर रे ते।" सुखदेव सिंह ने जूठी पतलों से भरे टोकरे की तरफ इशारा करके कहा टोकरा भर तो जूठन ले जा रही है कृ ऊपर जातकों के लिए खाणा माँग रही है ? अपणी औकात में रह चूहड़ी ! उठा टोकरा दरवाजे से और चलती बन।" सुखदेव सिंह त्यागी के वे शब्द मेरे सीने में चाकू की तरह उतर गए थे, जो आज भी अपनी जलन से मुझे झुलसा रहे हैं। उस रोज मेरी माँ की आँखों में दुर्गा उतर आई थी। माँ का वैसा रूप मैंने पहली बार देखा था। माँ ने टोकरा वहीं बिखेर दिया था। सुखदेव से कहा "इस ठाके अपने घर में धर ले। कल तड़के बारातियों को नास्ते

में लिखा देणा।" हम दोनों भाई बहनों का हाथ पकड़ के तीर की तरह उठकर चल दी थी। सुखदेव सिंह माँ पर हाथ उठाने के लिए झपटा था, लेकिन मेरी माँ ने शेरनी की तरह सामना किया था। बिना डरे। उसके बाद माँ कभी उनके दरवाजे पर नहीं गई और जूठन का सिलसिला भी उस घटना के साथ बंद हो गया था।¹⁴

उपर्युक्त पक्षितयाँ के माध्यम से प्रो० गिन्सबर्ग का समाजशास्त्र की परिभाषा में समाहित करके देखते हैं तो अनुभव होता है कि लेखक की माँ सुखदेव सिंह के घर सफाई का काम करती थी। उनकी लड़की शादी की अवसर पर सुखदेव सिंह के घर का साफ—सफाई किया और उसके बदले में लेखक की माँ जूठे पतल ले जाना चाहती भी है, मगर वह अपने बच्चों के लिए एक पतल फ्रेस खाना मांगती है। परन्तु सुखदेव सिंह के विचार में सफाई कर्मी जूठे खाना खाने की अधिकारी है। फ्रेस खाना खाने का नहीं। यहाँ सुखदेव सिंह के भीतर मानवता नहीं के बराबर जिंदा है। इसलिए इस तरह की विचार रखते हुए दिखाई पड़ता है। वह वर्चस्ववादी, जातिवादी की अहम में झूबे हुए होने के कारण ऐसी बात कही है।

यहाँ ओमप्रकाश वाल्मीकि की माँ की अंतःक्रियाएँ जिस प्रकार दिखाई देता है तो सुखदेव सिंह का भी अतन्तःसंबंधों प्रतिक्रियाएँ साफ झलता है जिसमें वर्चस्ववादी सोच और अभिजात्य वर्गीय विचार मौजूद है। लेखक की माँ की आर्थिक, सामाजिक दशा तथा सुखदेव सिंह की आर्थिक एवं सामाजिक दशा स्पष्ट रूप से दीखता है और अंत में दोनों के बीच का संवाद का परिणाम स्पष्ट है यही है समाजशास्त्रीय अध्ययन है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानियों में समाजशास्त्रीय विचार इस प्रकार सामाहित है कि उन कहानियों को पढ़ने के बाद सामजशास्त्रीय विचारधारा समझने में थोड़ी भी हिजक नहीं होती है। यहाँ वाल्मीकि की एक कहानी का जिक्र करना चाहूँगा। शीर्षक है 'पच्चीस चौका डेढ़ सौ' यह कहानी यह दर्ज करती है कि शिक्षा के बीना समाज का विकास संभव नहीं है। शिक्षा के अभाव में सामंती सोच की प्रवृत्ति गरीब, दलित को किस हद तक शोषण कर सकती है। इसका अंदाजा नहीं लगाया जा सकता है। यह कहानी दलित समाज की आर्थिक शोषण के माध्यम से भारतीय समाज की उन मान्यताओं एवं परंपराओं पर प्रहार करती है जहाँ दलितों को शिक्षा देने की परंपरा से वंचित रखा जाता है। शिक्षा पाना दलित समाज की सामाजिक एवं आर्थिक गुलामी से मुक्त होना है तथा शोषित होने से छुटकारा पाना है। इस कहानी की कुछ पंक्तियों के माध्यम से दलित समाज में शोषित की बात बताना चाहूँगा। "चौधरी ने कहा, "मैन्ने तेरे बुरे बखत में मद्द करी ती। ईब तू ईमानदारी ते सारा पैसा चुका देना। सौ रूपये पर हर महीने पच्चीस रूपये ब्याज के बनते हैं। चार महीने हो गए हैं ब्याज—ब्याज के हो गए हैं। पच्चीस चौका डेढ़ सौ। तू अपणा आदमी है तेरे से ज्यादा क्या लेणा। डेढ़ सौ में बीस रूपये कम कर दे। बीस रूपये तुझे छोड़ दिए। बच्चे एक सौ तीस। चार महीने का ब्याज एक सौ तीस अभी दे दे। बाकी रहा मूल जिब होगा दे देणा। महीने के महीने ब्याज देते रहणा।"⁵ उपर्युक्त पंक्तियों पर ध्यान देने से पता चलता है कि अगर कर्ज लेने वाला व्यक्ति शिक्षित होते तो आर्थिक शोषण का शिकार नहीं होना पड़ता तब वह स्वयं जानता कि पच्चीस चौका सौ होता है। पच्चीस चौका डेढ़ सौ नहीं।

'दो चेहरे' नाटक में ओमप्रकाश वाल्मीकि ने मजदूर संगठनों अंतर्विरोध और भारतीय सामाजिक व्यवस्था के वर्चस्ववादी, अभिजात्यवर्ग के नायक का दोहरे चरित्र को बड़ी सहज तरीके से दर्शाएँ हैं। जिसका साधारण रूप में तो एक चेहरा है मगर समय—समय पर स्थान बदलते ही उसके व्यवहारिकता में दोहरे चरित्र वाले पात्र के रूप में उपस्थित होते हैं। इसी प्रसंग में ये पंक्तियाँ किशन : "भाइयों, तुमने अभी—अभी देक्खा। यो सिबराज सहर के कारखाने में मजदूरों का नेता बण के उनके हितों की भाषा बोलता है और यहाँ हमारे हितों के खिलाफ क्यू? जानते हो क्यू? क्योंकि यह सिबराज भी उसी व्योबवस्था का हिस्सा है जिसने तुम्हें जानवरों से भी बदतर जिनगी दी है। तुम्हारी जिनगी नरक बणा दी। कमाओ तुम खायें वो कब तक चलेगा यो आखिर कब तक इस जिनगी से बोरहोगे कब तक" ?⁶

ओमप्रकाश वाल्मीकि 'पेड़' शीर्षक कविता में पेड़ की अस्तित्व का बखूबी बताते हैं, वह कहते हैं कि पेड़ शाखाओं पर जब तक हरे पत्ते लगे हुए हैं जो हवा हिलते डोलते रहते हैं। ये पंक्तियाँ :

पेड़,/ तुम उसी वक्त तक पेड़ हो
जब तक ये पत्ते/ तुम्हारे साथ हैं
पत्ते झारते ही/ पेड़ नहीं ठूँठ कहलाओगे
जीते जी मर जाओगे।"⁷

हिन्दी साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र और दलित शास्त्र का सौन्दर्यशास्त्र दोनों का अलग—अलग रूप मौजूद है जैसे भूखे पेट वालों का सौन्दर्य बोध तथा भरे पेट वालों का सौन्दर्य बोध दोनों एक नहीं हो सकते। ओमप्रकाश वाल्मीकि के शब्दों में—“आज एक अलग तरह

पैरोक्तर

का सौन्दर्यशास्त्र तैयार हो रहा है। आज जो दलित लेखन है उनकी मान्यता अलग है, उसकी परिकल्पना अलग है। वह चीज जो पहले के हिन्दी साहित्य में श्रेष्ठ मानी जाती थी, वह यहाँ नहीं है। वहाँ एक महाकाव्य लिखने के लिए नायक का कुल उदात्त होना चाहिए, नायक श्रेष्ठ कुल का होना चाहिए, यहाँ दलित साहित्य में उसकी जरूरत नहीं है, तो जाहिर है मान्यता बदल रही है। रंग रूप को लेकर, सौन्दर्य को लेकर। आज सौन्दर्यता की परिभाषा बदल रही है। पर्सीने से लथपथ नाविक, उसके पुट्ठों से जो पसीना बह रहा है, मुझे वह सुन्दर लग रहा है। यानी श्रम में ही सौन्दर्य देखना, सुन्दरता का मापदण्ड बदल रहे हैं और बदलेंगे। गोरा रंग सुन्दरता का प्रतीक नहीं रह जाएगा। भारत में जितनी भी सुन्दर स्त्रियाँ या पुरुष हुए हैं, वे सब साँवले हैं, राम साँवले हैं, कृष्ण सावले हैं, द्रोपदी साँवली है क्यों? लेकिन हमने उन्हें भुला दिया। हम उन्हें सुन्दरता का प्रतीक मानते—मानते भटक गए, हम गोरे रंग को ही सुन्दरता का प्रतीक मानने लगे, जब कि हमारे कवि लोग, साँवलेपन को सुन्दरता का प्रतीक मान रहे थे। वाल्मीकि ने राम को साँवला दिखाया, वेदव्यास ने कृष्ण को साँवला दिखा, द्रोपदी भी साँवली है। वह एक सुन्दरतम् स्त्रियों में से थी। मापदण्ड वहाँ थे, लेकिन हमने उन्हें भुला दिया क्योंकि हमारी अध्यात्मिकता में हमारे संस्कारों में वह चीज कहीं फिट नहीं होती थी।⁸

संदर्भ :

- भूषण विद्या, सचदेवा डी. आर. (पियर्सन), कॉपीराइट 2012, डार्लिंग किंडरस्ले (इंडिया), प्र.लि., दक्षिण एशिया में पीयर्सन एजुकेशन के लाइसेंसी, 7वीं मंजिल, नौलेज बुलेवार्ड—ए, सेक्टर-62, नाइज़ा—201309, पृ. 4

- वही, पृ. 4–5
- पाण्डेय मैनेजर साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, प्रथम संस्करण 1974, तृतीय संस्करण 2006, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला, पृ. 123
- वाल्मीकि ओमप्रकाश 'जूठन' आत्मकथा पहला संस्करण : 1999, आठवीं आवृत्ति : 2014, राधाकृष्ण प्रकाशन, प्र. लि. 7 / 31., अंसारी मार्ग, दरियागंज नई दिल्ली—110002, पृ. 21
- वाल्मीकि ओमप्रकाश 'सलाम कहानी संग्रह', 'पच्चीस चौका डेढ़ सौ', पहला संस्करण—2000, पहली आवृत्ति—2010, राधाकृष्ण प्रकाशन, प्र. लि. 7 / 31, अंसारी मार्ग, दरियागंज नई दिल्ली—110002, पृ. 81
- वाल्मीकि ओमप्रकाश 'दो चेहरे' नाटक प्रथम संस्करण : 2012 गौतम बुक सेंटर, सी—263 ए, चंदन सदन गली नं. 9, हरदेवपुरी, शाहदरा दिल्ली—110093, पृ. 42–43
- वाल्मीकि ओमप्रकाश 'बस्स! बहुत हो चुका' काव्य संग्रह 'पेड़' प्रथम संस्करण 1997, आवृत्ति—2017, वाणी प्रकाशन, 4695, 21 ए दरियागंज नयी दिल्ली—110002, पृ. 11
- वाल्मीकि ओमप्रकाश 'ओमप्रकाश का अंतिम संवाद' प्रथम संस्करण : 2019 राजपाल एण्ड सन्ज 1590 मदरसा रोड, कश्मीरी गेट दिल्ली—110006, पृ. 36

हिन्दी उपन्यास के उदय में नवजागरण का योगदान

नगीना लाल दास (शोधार्थी)

हिन्दी विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय

जाहिर है यह प्रदेश
जनसंख्या और क्षेत्रफल
दोनों ही दृष्टि से भारत
का महत्वपूर्ण अंग है फिर
यह कैसे होगा कि हिन्दी
नवजागरण की जो
विशेषताएँ हो वे भारतीय
नवजागरण की विशेषताएँ
न होगी। यह अलग बात
है कि भारतीय
नवजागरण की कुछ
विशेषताएँ हिन्दी
नवजागरण से मेल न
खाएँ, क्योंकि भारतीय
नवजागरण के संगम में
हिन्दी के साथ-साथ
बंगला, मराठी, गुजराती,
तमिल और मलयालम
नवजागरण के जल भी
मिले हुए हैं। इस तरह
हिन्दी नवजागरण
भारतीय नवजागरण का
एक अनिवार्य अंग है

दुनियाँ के सभी देशों के इतिहास में कुछ अक्सर या
मौका ऐसे आते हैं जब मानवीय आकांक्षा यथार्थ से आदत
होकर अपने मूल्यांकन के लिए विवश हो जाती है। मूल्यांकन
की इस प्रक्रिया के सर्वाधिक उपयोगी उपकरण जनमानस में
उमड़ने वाले प्रश्न होते हैं जिन्हें उसके पहले किसी ने विचार
करने लायक समझा ही नहीं था या जिनकी आवश्यकता ही
महससू नहीं की गई थी। भारत के इतिहास में 19वीं शताब्दी
कुछ इस तरह का ऐसा दौर था जिनमें हमारे प्रजाओं की संख्या
अपने उत्कर्ष पर थी। पराधीनता के कटु यथार्थ से स्वाधीनता
के आकांक्षा का जन्म इस शताब्दी का एक ऐसा मार्ग है
जिसको हमने लेकर समाजवादी आकांक्षा पर ही प्रश्न-चिन्ह
खड़ा कर दिया। यह वही दौर था जब भारतीय समजा कई
मूल्यों अनेक आरथाओं और विरोधी प्रतीत होती हुई, संस्कृतियों
के टकराव से गुजर रहा था। फिर यह कैसे होता कि यह
टकराव किसी रचनात्मक उर्जा को जन्म दिए बगैर समाप्त हो
जाता है। एक रचनात्मक उर्जा विकसित हुई जिसने सदियों से
जड़ता को प्राप्त भारतीय जनजीवन के मानस पटल पर कई
तरह के सपनों के बीज विखेर दिए। बाद में इसी को नवजागरण
के नाम से जाना गया। हिन्दी में भारतेन्दु के उदय के साथ
एक नई चेतना की शुरूआत हो गई। इस नयी चेतना को
'नवजागरण' नाम देने का श्रेय रामविलास षर्मा, महावीर प्रसाद
द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, 1977 को है। इसके पहले
नवजागरण की चर्चा भारत में प्रायः बांग्ला नावजागरण के रूप
में होती रही है। रामविलास शर्मा ने इस षब्द को नया बताते
हुए धारणा को को पुरानी ही बताया था। पुरानी धारणा का
संबंध संभवतः 'रिनेसाँ' था।

भारतीय नवजागरण और हिन्दी नवजागरण के संबंधों
की चर्चा के क्रम में आम तौर पर जो दृष्टिकोण विकसित हुई
है उनके अनुसार यह मान लिया जाता है कि हिन्दी नवजागरण
शुरू से ही प्रगतिशील रहा है जो कुछ कमजोरियाँ हैं वे ही

बाहर से आयी है। इस प्रसंग में डॉ० रामविलास शर्मा के विचारों को हम रेखांकित कर सकते हैं— “हिन्दी नवजागरण मूलतः बुद्धिवादी और रहस्यवादी विरोधी है। हिन्दी के नए रहस्यवाद का स्रोत बंगाल है। औद्योगिकीकरण और आधुनिक विज्ञान का विरोध करने वाली विचारधारा का स्रोत गुजरात है।”¹ यहाँ डॉ० शर्मा के विचारों से स्पष्ट है कि हिन्दी नवजागरण की विशिष्टता प्रमाणित करने के लिए जिस तर्क का सहारा लेते हैं। हिन्दी नवजागरण को भारतीय नवजागरण से इस तरह काटकर देखना जहाँ तक एक तरफ नवजागरण की आत्मा के साथ अन्याय है वही इसे अखिल भारतीय नवजागरण से श्रेष्ठ बताना आत्मयुग्घता के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

हिन्दी नवजागरण हिन्दी भाया या साहित्य का ही नवजागरण नहीं है बल्कि हिन्दी जाति का नवजागरण है। जाहिर है यह प्रदेष जनसंख्या और क्षेत्रफल दोनों ही दृष्टि से भारत का महत्वपूर्ण अंग है फिर यह कैसे होगा कि हिन्दी नवजागरण की जो विशेषताएँ हो वे भारतीय नवजागरण की विशेषताएँ न होंगी। यह अलग बात है कि भारतीय नवजागरण की कुछ विशेषताएँ हिन्दी नवजागरण से मेल न खाएँ, क्योंकि भारतीय नवजागरण के संगम में हिन्दी के साथ—साथ बंगला, मराठी, गुजराती, तमिल और मलयालम नवजागरण के जल भी मिले हुए हैं। इस तरह हिन्दी नवजागरण भारतीय नवजागरण का एक अनिवार्य अंग है जिसके संबंधों की पड़ताल दोनों के बीच एकता और भिन्नता के धरातल पर ही की जा सकती है।

डॉ० ई० विजय लक्ष्मी के शब्दों में “हिन्दी में भारतीय नवजागरण का व्यापक रूप उपन्यासों में सबसे प्रभावशाली ढंग से प्रकट हुआ। इसका कारण भारत में उपन्यास विधा के विकास में

छिपा हुआ है, जिसके चलते सभी भाषाओं के उपन्यासकार जड़ता के विरोध में खड़े दिखाई देते हैं। हिन्दी की केन्द्रीय स्थिति ने इस भाषा के उपन्यासकारों पर अधिक जिम्मेदारियाँ डाल दी थी, जिन्हें इन्होंने निभाया। अगर नवजागरण कालीन हिन्दी साहित्य को समझना है तो उपन्यास को किनारे करके किसी सही निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सकता।”²

नवजागरण की मूल प्रेरणा अनिवार्यतः विवेकपरक संवाद धार्मिता पर आधारित होना चाहिए। एक दूसरे के विचारों से दो—चार होकर उनका सर्जनात्मक प्रयोग ही इस संवाद का लक्ष्य है। संवाद की यह प्रक्रिया हिन्दी नवजागरण के प्रणेताओं के यहाँ सहज रूप में देखी जा सकती है। विभिन्न भाषाओं में लिखे गए तरह—तरह के साहित्य रूपों का अनुवाद इस दौर में हुआ। अनुवाद के माध्यम से भी सांस्कृतिक और राजनैतिक इच्छाएँ व्यक्त हो सकती हैं, इसे आसानी से अनुवादित कृतियों में देखा जा सकता है। नवजागरण के प्रणेताओं ने यह कभी नहीं माना कि वे जो कुछ भी सोचते हैं वही ठीक है बाकी सब व्यर्थ है। अंग्रेजी, बंगाली, मराठी गुजराती साहित्य और चिन्तन से भली—भाँति तादाम्य बैठाकर भारतेन्दु, महावीर प्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचंद्र शुक्ल जैसे विद्वानों ने उन भाषाओं से अनुवाद किए।

भारत में भवित आंदोलन की लहर ने भी दक्षिण की तमाम लोकभाषाओं को साहित्यिक भाषा के रूप में विकसित करने का सराहनीय प्रयास किया। इससे आधुनिक तमिल, तेलगु, कन्नड़ के साथ ही बंगला, मराठी ब्रज और अवधी की साहित्यिक भाषा के रूप में अस्तित्व में आई। हिन्दी खड़ी बोली भी तभी अस्तित्व में आ गई थी। लेकिन कुछ राजनीतिक सांस्कृतिक कारणों से इसे साहित्यिक भाषा का गौरव नहीं

प्राप्त हो सका था। 1800 ई० के आस—पास ईस्ट इंडिया कंपनी और ईसाई मिशनरियों ने हिन्दी खड़ी बोली गद्य की सम्पर्क क्षमता और क्षेत्रीय व्यापकता के महत्व को समझा और इसके अध्ययन—अध्यापन की परम्परा का सूत्रपात किया। राजा राममोहन राय ने भी प्रचार—प्रसार में इसके महत्व को समझ कर बंगला पत्र के साथ बंगदूत के रूप में हिन्दी में पद निकाला। इसके महत्व के कारण ही गुजरात के दयानंद सरस्वती ने अपना प्रचार—ग्रंथ सत्यार्थ प्रकाश इस भाषा में लिखा। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के आरम्भिक दशकों में ही हिन्दी खड़ी बोली गद्य को साहित्यिक भाषा की स्वीकृति मिलली प्रारम्भ हुई। जबकि बंगला और मराठी तीन—चार सौ वर्षों से साहित्यिक भाषा के रूप में विकसित होती रही। अतः उनका गद्य हिन्दी खड़ी बोली गद्य से पहले ही काफी विकासत हो चुका था। फलस्वरूप इन भाषाओं में गद्य के माध्यम से नई चेतना की अभिव्यक्त पहले हुई। डॉ० ई० विजय लक्ष्मी के अनुसार ‘यही समय आधुनिक भारत के निर्माण की परिस्थितियों के प्रारम्भ का भी है पर जिस प्रकार भवित आंदोलन का प्रसवार पूरे देश में एक साथ नहीं हुआ उसी प्रकार नवजागरण भी पूरे देश में एक साथ नहीं आया। सन् 1757 में पलासी के युद्ध में ईस्ट इंडिया कंपनी ने नवाब शिराजुद्दौला को हराया, इसी काल में बंगाल के नवजागरण का प्रारम्भ माना जाता है।’³ कहने का तात्पर्य है कि हिन्दी की अन्यान्य गद्य विधाओं में नवीन चेतना और नये चिन्तन की अभिव्यक्ति पहले निबंधों और नाटकों में हुई। आधुनिक उपन्यास लोक जीवन से जुड़कर ही विकसित हुआ है। उपन्यास मात्र कथात्मक गद्य नहीं वह मानव जीवन का गद्य है। उपन्यास ऐसी कला है जो सम्पूर्ण मानव को लेकर उसके अभिव्यक्ति प्रदान करने की चैष्टा प्रदान करती है इस रूप में उपन्यास एक कठीन गद्य विधा है जो लोक

जीवन के गहरे अनुभव के साथ ही एक विशिष्ट कौशल की अपेक्षा रखती है। बावजूद इसके नवजागरण काल के आरम्भ में हिन्दी में कुछ उपन्यास लिखे गए। जिनमें प्रमुख सामाजिक मुद्दों पर अपने विचार प्रकट किए गए। इनमें ‘भाग्यवती’ उपन्यास (1877), ‘परीक्षा गुरु’ (1882) विशेष रूप से उल्लेखनीय है। जिन पर हम बाद में विचार करेंगे। इनके अतिरिक्त भी बहुत से सामाजिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक उपन्यास लिखे गए जिनमें नवजागरण की अपेक्षा चारित्रिक सुधार मूलक पुनरुत्थानवादी धारणाएँ भी अधिक प्रकट हुई है। इनके साथ ही ऐय्यारी और जासूसी की रोमांचक घटनाओं से भरी हुई उपन्यासों की बाढ़ सी आ गई। जिसमें देवकीनन्दन खत्री, गोपालराम गहमरी, लाला श्री निवास दास, किशोरी लाल गोस्वामी, मेहता लज्जाराम शर्मा, ब्रजनन्दन सहाय आदि उल्लेखनीय हैं।

संदर्भ :

1. शर्मा, रामविलास, महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, पहली आवृत्ति—2002, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ. 179
2. डॉ. ई. विजय लक्ष्मी, उपन्यासों के सरोकार, पहला संस्करण—2012, प्रकाशक राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि. दरियागंज, नई दिल्ली—110002, पृ. 25
3. वही, पृ. 26

भारत में अनुवाद या आत्मसातीकरण की परम्परा

पवन कुमार साव (शोधार्थी)

हिन्दी विभाग

कल्याणी विश्वविद्यालय, प. बंगाल

भारत में प्रायः अनुवाद पर परिचर्चा करने वाले या भारत में अनुवाद की विशाल परम्परा को दर्शने वाले विद्वानों का यह मानना है कि भारत जैसी बहुभाषी समाज संस्कृति एकरूपता का होना कोई रहस्य नहीं बल्कि अनुवाद परम्परा की ही देन है। प्रायः बहुत सारे पश्चिम के विद्वानों ने भी भारत के भाषाओं और उनके अनुवाद पर कार्य किया है। जिनमें एक है 'शोल्डन पोर्लाक' इन्होंने अपने लेख 'इण्डिया इन वर्नाक्युलर मिलेनियम' में यह जोर देकर कहा है कि भारत में दूसरी शताब्दी लोक भाषीकरण का समय था।

प्रायः भारतीय विद्वानों की यह रीति रही है कि भारत से संबंध रखने वाले प्रत्येक विचारधारा को पश्चिमी विचारधाराओं के साथ जोड़ने का प्रयास करते हैं या पश्चिमी की विचारधों का भारतीय परम्पराओं पर थोपने का प्रयास करते हैं। जिसमें भारत में अनुवाद की परम्परा संबंधी विचारधाराओं पर बहुत विवाद है। कुछ भारतीय विद्वान पश्चिम की भाँति अनुवाद को मूलग्रंथ की अवधारणा से जोड़ कर भारत में अनुवाद की लम्बी चौड़ी पीढ़ी को दर्शा देते हैं तो कुछ विद्वान अनुवाद की पद्धति का विकास भारत में 20वीं सदी स्वीकार करते हैं। भारत में प्रायः अनुवाद पर परिचर्चा करने वाले या भारत में अनुवाद की विशाल परम्परा को दर्शने वाले विद्वानों का यह मानना है कि भारत जैसी बहुभाषी समाज संस्कृति एकरूपता का होना कोई रहस्य नहीं बल्कि अनुवाद परम्परा की ही देन है। प्रायः बहुत सारे पश्चिम के विद्वानों ने भी भारत के भाषाओं और उनके अनुवाद पर कार्य किया है। जिनमें एक है 'शोल्डन पोर्लाक' इन्होंने अपने लेख 'इण्डिया इन वर्नाक्युलर मिलेनियम' में यह जोर देकर कहा है कि भारत में दूसरी शताब्दी लोक भाषीकरण का समय था। साथ ही यह भी स्वीकार किया है कि लोक भाषीकरण को जन्म देने वाले ठीक-ठीक कारण प्रायः चिन्हित कर पाना संभव नहीं है। अगर लोक भाषीकरण के के विकास में हम अनुवाद के योगदान को ले तो हमें यह भी देखना जरूरी हो जाता है कि दूसरी सदी से 20वीं सदी तक अनुवाद को किस रूप लिया जाता था। संस्कृत के आचार्य 'भर्तहरि' ने अनुवाद का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा 'आवृत्तिनुवादों वा', ब्राह्मावधूत श्री सुखानन्दनाथ की 'शब्दार्थ चितांमणी' में अनुवाद को 'प्राप्तस्य पुनः कथनेऽनुवाद' बताया 'काशिका' के अनुसार अनुवाद 'प्रमाणान्तरवाग— तस्यार्थस्य शब्देन संकीर्तन मात्रान्तरवाः' है इत्यादि ऐसी बहुत सी परिभाषाओं के अध्ययन से पता चलता है कि अनुवाद का भारतीय परम्परा में एक स्वतंत्र उर्थ है। 20वीं शती अनुवाद का अर्थ पुर्नकथन

यापुनःकथन के रूप में लिया जाता है। इसी परिप्रेक्ष्य में पश्चिममें अनुवाद का अर्थ पुर्नकथन या पुनःकथन के रूप में लिया जाता है। इसी परिप्रेक्ष्य में पश्चिम में अनुवाद की अवधारणा पर ध्यान दें तोपता चलता है कि भारत की अनुवाद की अवधारणा पश्चिम से लगभग भिन्न रही है। पश्चिम में तीसरी शती से मूलग्रंथ की अवधारणा रही है। जिस कारण पश्चिम में अनुवाद की अवधारणा का विकास हुआ। वहीं भारत में दार्शनिक और धार्मिक ग्रंथों में कुल मूलग्रंथ की अवधारणा मिल जाती है, परन्तु इनकों छोड़कर देखा जाए तो भारत में मूल ग्रंथ की अवधारणा नज़र नहीं आती है। शायद इसलिए ही भारत में अनुवाद की परिकल्पना पश्चिम से भिन्न है। पश्चिम में मूलग्रंथ के रूप में बाईबल रहा है एवं इसी के प्रचार—प्रसार हेतु अनुवाद को प्रयोग में लाया गया था। पश्चिम में अनुवाद का विकास लगभग तीसरी शती से हुआ। परन्तु बहुत बाद में जा कर अनुवाद को एक विषय के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त हुई और बहुत से विद्वानों ने इसकी महत्ता को स्वीकार करते हुए इसे पतिरक्षित किया। जैसे कि नायडा— “अनुवाद का तात्पर्य है स्रोत में भाषा में व्यक्त संदेश के लिये लक्ष्य भाषा में निकटतम सहज समतुल्य संदेश का प्रस्तुत करना। न्यूमार्क “अनुवाद एक ऐसा शिल्प है, जिसमें एक भाषा में व्यक्त संदेश के स्थान पर दूसरी भाषा के उसी संदेश को प्रस्तुत करने का प्रयास करता है। इत्यादि अन्य विद्वानों के मतों के अध्ययन से यह सार विकलता है कि अलग—अलग भाषाओं के मध्य संदेशों व भावों का हस्तांतरण ही अनुवाद है। जिसमें एक कृति दूसरी भाषा की प्रतिरूप होती है। इस तरह की पद्धति भारत में 20वीं शती से पूर्व देखने को नहीं मिलती।

बहरहाल यह तो सच है कि यूरोप में। आधुनिक यूरोपीय भाषाओं के विकास और कुछ

कृतियों को प्रतिष्ठित करने में अनुवाद की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। अब सवाल यह उठता है कि यूरोप के विद्वानों ने जिस तरह अनुवाद को विशेष महत्व दिया, वैसे ही महत्व देने में भारतीय विद्वान कहां पीछे रहने वाले थे। यूरोप में जो हुआ उसे यथावत लागू करते हुए विद्वानों ने अपनी—अपनी भाषा में ‘संस्कृति से अनुदित बता रहे हैं, वे अनुतिदत नहीं बल्कि स्वतंत्र रचनाएँ थी। जैसे कि प्रायः ‘रामचरितमानस’ को विद्वान रामायण का अनुदित ग्रंथ मानते हैं परन्तु यह सही नहीं है क्योंकि ‘ए.के. रामानुजन’ ने अपनी पुस्तक ‘तीन सौ रामायण’ में यह स्पष्ट किया है कि तुलसी का ‘रामचरितमानस’ वाल्मीकि रामायण से भिन्न व परन्तु अभी भी कई विद्वान तुलसी के ‘रामचरितमानस’ को ‘रामायण’ लय है जो की सही नहीं है, एक तरह तो वे विद्वान तुलसी के कवि कौशल को चुनौती देते हुए उनकी भूमिका को साहित्य में गौण कर रहे हैं।

भारत में पुरानी कृतियों से प्रेरणा लेकर नयी कृतियों रचने की लम्बी परम्परा रही है पुरानी कृतियां को उपजीव्य काव्य कहा जाता है। ‘रामायण’ और ‘महाभारत’ भारत के बुनियादी उपजीव्य है। भारत में पश्चिम की तुलनामें अनुवाद से अधिक आत्मासातीकरण का बोल बाला था। ‘स्टुआर्ड ब्लैकबर्न’ ने लिखा है भारतीय विद्वान, लेखक, रचनाकार हमेशा से बहुभाषा के जानकार रहे हैं। लेकिन 48वीं शती से पहले तक दूसरी भाषा भाषा में लिखे गए ग्रंथों का वे अनुवाद नहीं बल्कि उसकी मूल संवेदना को आत्मसात कर लेते थे। दक्षिण भारत के संबंध भी इनका मानना था कि भाषाओं के बीच शास्त्रिक अर्थों में अनुवाद नहीं हुए बल्कि तमील और संस्कृत के बीच आत्मसातीकरण की प्रक्रिया ही कार्य कर रही थी।

सरल शब्दों में कहा जाए तो भारतीय ग्रंथों व भाषाओं में लचीलेपन की वजह से पश्चिमी

ढंग की पद्धति की आवश्यकता यहाँ नहीं पड़ी। डॉ. राजकुमार ने अपने लेख 'क्या अनुवाद की कोई भारतीय पद्धति भी थी?' इसमें इन्होंने आत्मसातीकरण को स्पष्ट करते जिसमें एक रचना नाना प्रकार के रूप में अवतार लेती परंतु सबके रूप, धर्म, गुण अलग—अलग होते हैं।'

भारत में लोक परम्परा और लिखित परम्परा में मौजूद कथाओं को आत्सात कर विभिन्न रचनाकारों ने अपने युग के अनुसार इसको एक न या रूप दिया। विविध ग्रंथों के उदाहरण द्वारा भारत में हम आत्मसातीकरण के प्रभाव को समझ सकेंगे। जिसमें मैंने मूल उपजीव्य राम कथा और महाभारत की कथा को आत्मसात किए हुए ग्रंथों के मात्र उदाहरण लिए हैं— वेदों से आत्मसात कियागया रामकथा वाल्मीकि (रामायण), भावभूति (उत्तररामचरित), बुद्ध (दशरथ जातक), क्षमेन्द्र (रामायण मंजरी), विमलसुरी (पठमचरित), गुणकप्रद (उत्तरपुराण), संघदास (वसुदेव हिन्दी), स्वभू (पउम चरित), कम्ब (रामायण), तुलसी (रामचरितमानस), ईश्वरदास (अंगदपैज), कृतिवास (रामायण), प्राणचंद चौदान (हनुमान महानाटक), केशव (हामचंद्रिका), रसिक गोविन्द (रामायण सुचनिका लछमण चंद्रिका) इत्यादि। महाभारत उपजीव्य का कथा भी वेदों से ली गयी है। फिर इसे भी आत्सात किया जाने लगा वेदव्यास (महाभारत), विष्णुदास (पांव चरित्र), शाली भद्रग शुरी द्वतीय (पाड़व चरित रास), इत्यादि बहुत से ऐसे ग्रंथ हैं जो उपजिव्यों का आत्मसात किए हुए हैं। परन्तु सबका युग बोध अलग—अलग है। अगर इन ग्रंथों को उपजीव्य (मूलग्रंथों) का अनुवाद कह दिया जाए तो इन रचनाकारों के साथ न्याय नहीं होगा। 'ए.के. रामानुजन' ने अपने ग्रंथ 'तीन सौ रामायण' में लिखा है— परवर्ती ग्रंथ मूल ग्रंथ का अनुवाद नहीं लिक विशिष्ट रचना हैं। वे एक तरह से नए ग्रंथ हैं, जिसका रूप ही विशिष्ट नहीं अन्तर्वस्तु भी ताजा है।

वस्तुतः भारतीय परम्परा में रचनाओं के बीच का अन्तर्संबंध बरगद के पेड़ के समान है जिसकी शाखाएँ पेड़ का रूप ले लेती हैं और बताना मुश्किल हो जाता है कि कौन सा इसका मूल है। इसी तरह भारतीय रचनाएँ भी कुछ ऐसी हैं जिसमें मूल रचना की तलाश कर पाना मुश्किल है, अतः आत्मसातीकरण की परम्परा भारत में बहुत पहले से चलती आ रही है। जिसका कारण भाषा के मध्य घनिष्ठ संबंध, कथ्यों का लचीलापन, धार्मिक कारण भी हो सकता है। आत्मसातीकरण की प्रक्रिया अभी भी चल रही है जैसे कि दिनकर (कुरुक्षेत्र और रश्मरथी), प्रसाद (कामायनी), हरिऔध (प्रियप्रवास), निराला (राम की शक्ति पूजा), धर्मवीर भारती (अंधायुग), इत्यादि आत्मसातीकरण के प्रभाव से संभव हुई रचनाएँ हैं।

संदर्भ :

1. ए.के. रामानुजन, तीन सौ रामायण
2. स्टुअर्ट, ब्लेकबर्न (2003), 'फोकलॉर एण्ड नैशनलिज़्म इन कोलोनियल5 इण्डिया, नई दिल्ली
3. शोल्डन, पोलॉक (4998) इण्डिया इन वर्नाक्युलर मिले नियम
4. डॉ. राजकुमार, 'क्या अनुवाद की कोई भारतीय पद्धति भी थी, प्रतिमान (2044)

नागार्जुन के उपन्यास में व्यक्त सामाजिक वैचारिकता (रतिनाथ की चाची और बलचनमा के विशेष संदर्भ में)

डॉ. कलावती कुमारी

सहायक प्रोफेसर, आर.बी.सी, कॉलेज, प. बंगाल

मैथिल समाज में जहां एक ओर जड़ताएं हैं, अंधविश्वास है, जदही मनोवृत्ति है तो वहीं दूसरी ओर इनसबसे निकल कर, इन्हें तोड़कर नया समाज रचने की छटपटाहट वाली परंपरा भी मौजूद है। नागार्जुन के उपन्यासों में मिथिला की ये दोनों ही वैचारिक स्थितियां सहज ही देखने में मिल जाती हैं। एक ओर मैथिल समाज का वह अंधकारमय सोच परंपरा और दूसरी ओर उस परंपरा से फूटता हुआ नया आलोक नागार्जुन की रचनाओं में प्रमुखता से उद्घाटित होता है। नागार्जुन अपने प्रखर जनवादी दृष्टि के कारण जनवाद के उन सरे सपनों को साकार करने की वैचारिकता रखते हैं। लेकिन उनके सामने यथार्थ रूप में मिथिला वह मध्यकालन समाज अवशेष और विरासत के रूप में उपलब्ध है जिसके शिकंजे को तोड़कर नागार्जुन जनवाद की किरण बिखेरना चाहते हैं— वह संसार, जिसका सपना कभी स्वाधीनता आंदोलन के अमर सेनानियों ने देखा था। वैचारिकता के स्तर पर नागार्जुन के उपन्यास में जनवादी आयामों को जिन विविध पक्षों को रचनाकार ने रूपांतरिक किया है। उन्हें का विश्लेषण यहां हमारा लक्ष्य है। एक बाता यहां स्पष्ट कर दूं कि विचारधारा या विचार जब किसी रचना में रूप ग्रहणकरता है तो वह प्रत्यक्ष प्रभावकारी यासुस्पष्ट नहीं होता अपितु वह रूपान्तरित होकर आता है, उसका स्वरूप बदला हुआ होता है, वह संवेद्य होता है। इसलिए किसी भी विचारधारा की तलाश किसी भी रचना में उसी तरह नहीं की जानी चाहिए जिस तरह समाज—विज्ञान की रचनाओं में की जाती है।

साहित्य में विचारधारा और विचार संवेदन बन कर ही प्रकट होता है। इसीलिए चाहे संवेदनात्मक ज्ञान कहिए या ज्ञानात्मक संवेदन, रचनात्मक विवेक के रूप में ही साहित्य में वह आकर ग्रहण करती है। यानी विचारधाराएं या विचार सारणियां अपने विविध रूपों के साथ साहित्य में प्रच्छन्नस रूप में विद्यमान रहती हैं। इसलिए इनका अन्वेषण भी अपेक्षाकृत श्रमसाध्य होता है। नागार्जुन के उपन्यासों में यह विचारधारा दो रूपों में प्रतिफलित दिखाई पड़ती है। सामाजिक विचार के अन्तर्गत शोषित वर्ग का समर्थन, नारी स्वाधीनता रुद्धियों, पाखण्डों, अंधविश्वासों, जाति भेद, छुआ—छूत का घोर विरोध, समाज सुधार, ग्रामीणनव निर्माण तथा युवा वर्ग में विश्वास आदि के द्वारा नागार्जुन ने जहां अपने प्रगतिशील जनवादी विचारों का परिचय दिया है वही राजनीति विचार के अंतर्गत भ्रष्टाचार तथा प्रशासन तंत्र पर भी प्रहार किया है जो उसी जनवादी विचारों का एक अन्य रूप है। विचार के इन दोनों रूपों द्वारा नागार्जुन जिस लक्ष्य को लेकर आगे बढ़ते हैं वह है नयी जनवादी समाज व्यवस्थाकी स्थापना, यहां हम ‘रतिनाथ की चाची’ एवं ‘बलचनमा’ उपन्यास के विशेष संदर्भ में लेखक के सामाजिक विचार या सामाजिक वैचारिकता को विश्लेषित करने का प्रयास करेंगे।

‘रतिनाथ की चाची’ उपन्यास में नागार्जुन ने सामाजिक विचार के अंतर्गत एक ओर विधवा गौरी के माध्यम से नारी विषयक अपनी मान्यताओं को रखा है। दूसरी ओर मैथिल समाज में गौरी जैसी न जाने कितनी नारियां असमय

पराये गर्भ का शिकार हो चुकी है। गौरी की मां कहती है 'इस तरह गौरी को मैं छिपा कर कब तक रख सकूँगी ? इस तरह कूलवा में यह घटना पहले कभी नहीं है ? अवश्य हुई है तब ! चतुरा चौधरी की लड़की, मक्खन पाठक की पतोहूँ पंडित जी की बहन है। विधवा-विवाह के समर्थक नागार्जुन इसके पीछे मूल कारण स्वीकारते हैं। विधवाओं के साथ समाज द्वारा कियाजा रहा अन्याय, गौरी के माध्यम से लेखक स्पष्ट कहलवाते हैं कि— 'कोई क्या कर लेगा हमारा दो बिटिया को मैं प्याज की तरह जमीन के अंदर दबा कर नहीं रख सकती, इसके चलते जो कुछ हो जिस समाज में हजारों की तादाद में जवान विधवाएं रहेंगी, वहां यही सब तो होगा। एक और नागार्जुन नारी जाति के साथ किए जो रहे सामाजिक अन्याय को उद्घाटित करते हैं तो दूसरी ओर नारी जाति के साथ किए जा रहे सामाजिक अन्याय को उद्घाटित करते हैं तो दूसरी ओर उन्हें नारी जाति के साथ मुसीबत में भी पूरी हमदर्दी है। उपन्यास की पंडिताइन जयनाथ से स्पष्ट कहती है कि "मेरे दिल में उस औरत के लिए बड़ा दर्द है। उसके प्रति मेरा स्नेह ज्यों का त्यों है।" नागार्जुन का मानना है कि स्त्री और पुरुष तथा पुरुष और स्त्री एक-दूसरे के पूरक हैं। फिर भी किसी "किसी भी युग में स्त्री को अमृत पीने का सुयोग नहीं मिला, पुरुष को अमृत पिलाने का परिणाम भी नारी को मिलता को मिलता है। अपमान और लांचनपूर्ण इस समाज से ऊब कर गौरी अंततः यही सोचती है कि मनुष्य होकर जन्म लेना

नागार्जुन के पात्र संघर्ष करते हैं, पीछे नहीं भागते, मुसीबत के क्षणों में गौरी किसी भी तरह के बज्रपात या अनहोनी से भय नहीं खाती अपितु निडर होकर कहती है, कभी भी घबड़ना नहीं चाहिए। बदनामी तो फैल ही गई। अब और इससे अधिक क्या होगा ?

अच्छा नहीं है। हे भगवान अगले जन्म भेले ही मैं चुहिया होऊँ, भले ही नेवला, मगर चेतनामय इस मानव समाज में फिर व्यक्ति कभी न पैदा होऊँ ऐसी ही विचार प्रेमचंद ने 'गबन' उपन्यास में रत्न के द्वारा किया है, जो समाज के व्यवहार से ऊबी, दुबारा इस समाज में नहीं पैदा होना चाहती। इससे स्पष्ट है कि नागार्जुन गौरी के इस कथन में प्रेमचंद की ही परंपरा का विकास कर रहे थे।

गौरी की यह सोच पुरुष जाति के प्रति धृणा की अभिव्यक्ति है न कि उसकी जीवन के प्रति निराशा नागार्जुन एक जनवादी रचनाकार है। जनवादी मूल्यों की स्थापना के लिए नागार्जुन के पात्र संघर्ष करते हैं, पीछे नहीं भागते, मुसीबत के क्षणों में गौरी किसी भी तरह के बज्रपात या अनहोनी से भय नहीं खाती अपितु निडर होकर कहती है, कभी भी घबड़ना नहीं चाहिए। बदनामी तो फैल ही गई। अब और इससे अधिक क्या होगा ? दारोगा फांसी तो देगा नहीं, हां पहरा जरूर बैठा दे सकता है। सरकार के कानून में गर्भ गिराना नाजायज है तो क्या सोचकर अंग्रेज बहादुर ने यह कानून बनाया होगा कि कोई विधवा भ्रूण हत्या नहीं कर सकती।

नागार्जुन ने मैथिल समाज में प्रचलित रुद्धियों अंधविश्वासों का यथार्थ चित्रण करते हुए अपने विचारों की सृष्टि की है। वैवाहिक कुरीतियों को उजागर करते हुए वे कहते हैं कि "मिथिला का ब्राह्मण जो जितना ही कुलीन होता है, उसकी दरिद्रता भी उतनी ही बड़ी हुआ करती है। इन्द्रमणि को भी अपनी तीन कन्याओं का भरण-पोषण अजन्म करना पड़ा क्योंकि चार से

तीन दामाद परम अभिजात्य और महादरिद्र थे।' 'मिथिला में प्रचलित यह कहावत है— 'मूर्ख का लड़ा मूर्ख हो सकता है परन्तु पंडित कालड़का पंडित नहीं होता, नागार्जुन ने इस कथन को यह कहते हुए निर्मूल साबित किया कि पंडित का लड़का भी पंडित होता है। जैसे कि नील माधव उपाध्याय का पुत्र जयमाधव ज्ञा सामाजिक असमानता, ऊंच—नीच का भेदभाव जैसी समस्याओं पर भी नागार्जुन की दृष्टि गई है। कुल्ली राउत को देखकर रतिनाथ ऊंच—नीच के मध्य बढ़ रही दूरी के बारे में सोचता है कि 'अगर यह भी ब्राह्मण के घर पैदा हुआ होता, तो निश्चय ही इसके बदन फटे—पुराने कपड़े न होते। हमारी जूठन खाके हमारी परिधान पहनकर इनके बच्चे पलते हैं। इन्हें कभी स्कूल और पाठशाला जाने का अवसर नहीं मिलता। क्यों मर्द तथा औरत इन लोगों का जीवन बड़ी जाति वालों की मेहरबानी पर निर्भर है।' वैवाहिक रुद्धियों में एक अनमेल विवाह तथाबहुपत्नी प्रथा के बारे में नागार्जुन ने जो विचार प्रस्तुत किया है उससे स्पष्ट है कि वे इस रुद्धियों के परम विरोधी है। कुद रूपयों के लालच में कम उम्र की लड़कियों का अनमेल विवाह कराने वाले भोला पंडित के बारे में नागार्जुन का यही विचार है कि 'पचीसों लड़कीयां जिसके नाम पर रातदिन आंसू बहाएं, उसका भला कैसे होगा? दस—पांच लड़कों को ठगने मेंी पंडित ने सफलता पायी थी। किसी के पल्ले गूंगी पड़ी तो किसी के पल्ले अंधी किसी के पल्ले लंगड़ी पड़ी तो किसी के पल्ले बड़ी इसी प्रकार रतिनाथ के खानदान का व्योरा प्रस्तुत करते हुए नागार्जुन बहु विवाह प्रथा का उल्लेख पाते हैं कि 'रतिनाथ के नाना की दस विषमाताएं थी। जयनाथ के परदादा ने इककीस शादियां की थी। तिब्बत में जैसे बहुपति प्राणी जायज और जीवित है।' कह

सकते हैं कि नागार्जुन सामाजिक कुरीतियों की इस परंपरा के विरुद्ध एक नई समाज—व्यवस्था की की स्थापना चाहते हैं।

'बलचनमा' में नागार्जुन ने सामाजिक विषमता के विरुद्ध तीव्र आक्रोश का आधार जमीदारों का अत्याचार है। बलचनमा जैसे गरीब किसान के शोषणको बलचनमा के ही मंह से नागार्जुन यों कहलवाते हैं कि 'मैं तो सिर्फ चरवाहा ही नहीं था, उनका पहिया भी था। मेरी हड्डी—हड्डी, नस—नस और रोए—रोए पर उनका मौरुसी हक था, पोसने—पालने, सड़ाने—गलाने और मारने—पीटने का भी उन्हें पूरा हक था फिर भी खाने—पीने में जूठन ही नसीब होता था। बचलनमा को याद है कि 'जिस दिन मेहमान आते उस दिन दादी कितनी बेचैनी से उनकी जूठन का बाट जोहती। जूठन बटोर कर दादी ले आती। ... हम सभी उस जूठन को घेरकर बैठते।

नागार्जुन चुपचाप शोषण सहन नहीं करते बल्कि उसका प्रतिकार भी करते हैं। बलचनमा मालिक की गुलामी करते ऊब जाता है। फूल बाबू के साथ शहर आने पर उसके विचार में प्रौढ़ता आती है अपनी तीन पुरखों की गुलामी का इतिहास उसे अब भी याद है "दुनियाबदली है, जहान बदला है। मालिकों की हालत बदली है। हमारी गुलामी पर काफी असर पड़ा है।" अपने शोषकों के खिलाफ विचार व्यक्त करताहुआ बलचनमा कहता है 'मैं गरी हूं तेरे पास अपार संपदा है, कुल है, बाप दादे का नाम है, अड़ोस—पड़ोस की पहचान है, जिला जवार में मान है औरमेरे पास कुछ नहीं है। मगर आखिरी दम तक मैं तेरे खिलाफ डटा रहा अपनी सारी ताकत को तेरे विरोधमें लगा दूंगा।

धार्मिक रुद्धियों, अंधविश्वास में अनास्था रखने वाले नागार्जुन सुखिया के भूत झाड़ने का विस्तृत ब्योरा प्रस्तुत करते हैं। बलचनमा बताता है कि (छत लगने पर सुखिया हाय बाप करती हुई जीभ निकालती बोलती— ही—ही... मैं काली हूँ पोखर पर जो बौना पीपल है, उसी पर रहती हूँ खा जाऊंगी समूचा गांव। बकरा दो बकरा...! तब मलिकाइन दोनों सात लड़ लेती—दुहाई भगवती की सुखिया का भूत ले जाइए। दो कुंवारी लड़कियों का खातिर खरी—पूरी खिलाउंगी। ” फिर दामो ठाकुर को बुलाया जाता जो झाड़—फूँक, पूजा—पाठ, टोना (टापेरंड सब विद्या में माहिर थे, ‘चूहे के बिल की मिट्टी पुराने बिनौले, तोड़े हुए कुश के तिनके, चार बूँद, गंगा जल, पीपल के सूखे पत्ते इतनी चीज मिलाकर दामो ठाकुर भूत झाड़ना शुरू करते हैं।”

अपने उपन्यासों में सामाजिक रुद्धियों के बारे में नागार्जुन की दृष्टि प्रगतिशील रही है। नागार्जुन जिस धरती पर पले—बढ़े, वहां जनमते ही रुद्धियों के बीज नागार्जुन को मिले थे स्वयं उनके ‘ठक्कन’ नाम के पीछे भी एक—एक ऐसी ही रुद्ध मान्यता थी कि नागार्जुन कहीं ठग कर चल न दें। फिर भी नागार्जुन ने इसे अपने संस्कार का अंग नहीं बनने दिया बल्कि वे आज भी इन कुरीतियों, रुद्धियों को विनाश के लिए प्रासंगिक हैं। सामंती पूंजीवादी व्यवस्था के समय से ही चले आ रहे अत्याचार काकुट अनुभव नागार्जुन के उपन्यासों में स्पष्ट है। इसी कारण जनता के मन से लेकर यह ख्याल निकाल देना चाहते हैं कि “मालिक राजा होते हैं और राजा ठहरे भगवान के अवतार कौन उनके खिलाफ कुछ भी सोच सकता था।” नागार्जुन ‘बलचनमा’ उपन्यास में बचलनमा के ऐसे ही भगवान के विरुद्ध संघर्ष करते दिखाते हैं। ऐसे जमींदारों

को भगवान स्वीकारना तो दूर उनसे डटकर मोर्चा लेने में भी बलचनमा अपना विस्तार समझता है। बलचनमा में जिस प्रतिरोध के स्वर नागार्जुन ने डाले हैं वही स्वर रतिनाथ की चाची में गौरी में नज़र आती है। एक स्त्री होकर भी उसकी सामाजिक चेतना प्रौढ़ है तभी तो वह सोचती है। ... बदनामी तो फैल गई अब और इससे अधिक क्या होगा ? दारोगा फांसी तो देगा नहीं, हां पहरा जरूर बैठा दे सकता है। सरकार के कानून में गर्भ गिराना नाजायज है तो क्या सोचकर अंग्रेज बहादुर ने यह कानून बनाया होगा कि कोई भी विधवा भ्रूण हत्या नहीं कर सकती। उपयुक्त कथन के आधार पर कहा सकते कि स्त्री में ऐसे जागरूकता लाना ही नागार्जुन का ध्येय रहा होगा। स्त्री चेतना के साथ—साथ ग्राम समाज में व्याप्त रुद्धियों, अंधविश्वासों, जाति भेद, वैवाहिक कुरीतियों, अनमेल विवाह, बहु विवाह प्रथा आदि का भी यथार्थ चित्रण लेखक ने किया है।

संदर्भ :

1. नागार्जुन, रतिनाथ की चाची, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, वर्ष 1994
2. वही, 3. वही, 4. वही, 5. वही, 6. वही,
7. वही, 8. वही, 9. वही, 10. वही, 11. वही,
12. नागार्जुन , बलचनमा, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, वर्ष— 1994
13. वही, 14. वही, 15. वही, 16. वही, 17. वही,
18. वही, 19. वही
20. नागार्जुन , ‘रतिनाथ की चाची’, यात्री प्रकाशन, दिल्ली , प्रथम संस्करण, वर्ष— 1994

लोक संस्कृति के विविध स्वरूप और छठ-पूजा

डॉ. रमेश यादव

सहायक प्रोफेसर

महारानी काशीश्वरी कॉलेज, कोलकाता

लोक का तात्पर्य साधारणतः सामान्य जन से है जिसमें कोई व्यक्तिगत पहचान नहीं होता है। बल्कि यह सामूहिक होता है। जिसमें विविध प्रकार के लोक या तबके के जन शामिल होते हैं। जैसे दीन-हीन, दलित, जंगली जातियाँ, कोल, भील, जनजाति, संथाल, हूण शक इत्यादि। चूंकि सम्पूर्ण लोक समुदाय का मिला-जुला रूप ही लोक कहा कहा जाता है। और इन सबकी समिश्रित संस्कृति को ही हम लो-संस्कृति कह सकते हैं। बहरहाल, विविध संस्कृति ऊपर से देखने में ये एक दूसरे से अलग-अलग होती है। जैसे रहन-सहन, खान-पान, ढाल-चाल वही, मत-नृत्य, कला-कौशल, भाषा इत्यादि। ये संस्कृतियाँ कभी भी एक शिष्ट समाज की आश्रित नहीं रही। उनसे शिष्ट समाज सदा लोक का प्रेरणा प्राप्त करता रहा है। और ये लोक-मानस को हेशा मांगलिक भावना से ओत-प्रोत करती रही है। नर्मदेश्वर चतुर्वेदी ने इस संदर्भ में लिखा है— ‘वह दीपक के बुझने’ की कल्पना से सिहर उठता है। इसलिए वह ‘दीपक बुझाने’ की बात नहीं करता ‘दपक बढ़ाने’ को कहता है। इसी प्रकार ‘दूकान बंद होने’ की कल्पना से सहम जाता है। इसलिए ‘दूकान बढ़ाने’ को कहता है। चंकि ये रूप हमें लोक की भावभिव्यक्तियों के अभिव्यंजना का चित्रण विविध लोक गीतों और लोक-कथाओं में मिलता है। प्रस्तुत संदर्भ में डॉ. जगदीश व्योम का मत है— ‘लोक साहित्य में लोक मानव का हृदय बोलता है। प्रकृति स्वयं गाती गुनगुनाती

है। लोक जीवन में पग-पग पर लोक संस्कृति के दर्शन होते हैं। लोक साहित्य उतना ही पुराना है जितना मानव, इसलिए उसमें जन-जीवन की प्रत्येक अवस्था, प्रत्येक वर्ग, प्रत्येक समय और प्रकृति अवस्था, प्रत्येक वर्ग, प्रत्येक समय और प्रकृति सभी कुछ समाहित है।

भारतीय लोक संस्कृति की आत्मा भारतीय सामान्य जनता है जो नगरों से दूर गाँवों, वन-प्रांतों में वास करती है। इसलिए संस्कृतिक ब्रह्म की भाँति अवर्णनयी है। चूंकि वह व्यापक, बहुल तत्वों का बोध कराने वाली और जीवन की विविध शैलियों एवं प्रवृत्तियों से संबंधित है। अतः विभिन्न भावों और अर्थों में उक्सका प्रयोग होता है। इसीलिए मानव-मन की बाह्य प्रवृत्ति मूलक उत्प्रेरणाओं से जो भी कुछ विकसित हुआ उसे सीयता कहेंगे। और उसकी अन्तर्मुखी विशेषताओं से जो कुछ विकसित और बना है उसे संस्कृति अमूमन श्रमशील समाज की संवेदनात्मक उद्देगों या आवेगों की अभिव्यक्ति रही है। पृथ्वी के प्रत्येक भाग के मूल-वासियों लोक संस्कृति अमूमन श्रमशील समाज की संवेदनात्मक उद्देगों या आवेगों की अभिव्यक्ति रही है। पृथ्वी के प्रत्येक भाग के मूल-वासियों लोक संस्कृति प्रकृति की रक्षा की है। चंकि लोक संस्कृति प्रकृति की गोद में पनपती रही है। इसलिए लोक-संस्कृति के उपासक या संरक्षक बाहर की किताबों की बजाय अंदर की किताबों को पढ़ना जरूरी समझते हैं। फलतः

ऐरोक्सर

लोक संस्कृति की शिक्षा-प्रणाली में श्रद्धा-भक्ति की प्राथमिकता होती है। जिसमें अनास्था, तर्क वितर्क की कोई जगह नहीं होती है। उपरोक्त संदर्भ में महामहोषपाध्याय गोपीनाथ जी ने लिखा है—‘वह अन्तः सलिला सरस्वती की भाँति जन-जीवन में सतत् प्रवाहित हुआ करती है। लोक-संस्कृति एवं लोकोत्तर संस्कृतियों का बीज एक ही है यह बीज लोक संस्कृति ही है ?

लोक संस्कृति बहुत व्यापक है वहां सब कुद लोक में हैं और वह लोक से छन-छनकर आती है। लेकिन जब इसे हम लोक से हटकर उसकी व्याख्या करने लग जाते हैं तो वह अश्लील जान पड़ने लगता है। क्योंकि लोक में लोक की गालियां पारंपरिक हैं। जो दैनिक जीवन में इनका भरपूर ही प्रयोग होता है। कोई भी गांव, क्षेत्र, जवार इससे अछूता नहीं है वैसे तो इस प्रकार से लोक जीवन की इनका प्रयोग खूब होता है। वैस ही किसी क्षेत्र विशेष में रहने वाले लोगों के पारस्परिक धर्म, त्योहार, पर्व, रीति-रिवाज, मान्यताओं, कला आदि को लोक संस्कृति का नमा दिया जाता है।

छठ-पूजा :

भारत में लोक संस्कृति अन्तर्गत छठ-पूजा भी आता है। जो पूर्वी और उत्तरी भारत के लोग इसे बड़ी श्रद्धा से पालन करते हैं। छठ-पूजा वर्ष में दो बार पालन किया जाता है— एक चैत्र की छठ-पूजा और दूसरा कार्तिक की छठ-पूजा। जिसमें कार्तिक महीने की

छठ-पूजा के पर्व की ऐसी महिमा है कि जिसमें उगते हुए और झूबते हुए सूर्य की आराधना की जाती है।
चूंकि यह पर्व अपने आप में एक अनोखा पर्व है जो सीधे मानव को प्रकृति से जोड़ने का कार्य करता है।
जिसमें सम्पूर्ण परिवार के मंगल की कामना भी की जाती है क्योंकि लोक-प्रचलित बात है कि सूर्य देव की पूजा करने से मानव रोग और कष्ट से निजात पाता है।

छठ-पूजा का विशेषमहत्व है। यह मुख्यतः चार दिनों का पूजा है। जो कार्तिक महीने के शुक्ल-पक्ष में षष्ठी को मनाया जाता है। इस पूजा को डाला-छठ, डाला-पूजा एवं सूर्य षष्ठी पूजा के नाम से भी जाना जाता है। अक्सर कहा जाता है कि लोग चढ़ते हुए सूर्य को नमस्कार करते हैं लेकिन छठ-पूजा के पर्व की ऐसी महिमा है कि जिसमें उगते हुए और झूबते हुए सर्यू की आराधना की जाती है। चूंकि यह पर्व अपने

आप में एक अनोखा पर्व है जो सीधे मानव को प्रकृति से जोड़ने का कार्य करता है। जिसमें सम्पूर्ण परिवार के मंगल की कामना भी की जाती है क्योंकि लोक-प्रचलित बात है कि सूर्य देव की पूजा करने से मानव रोग और कष्ट से निजात पाता है। हिन्दू-धर्म में सूर्य उपासना का विशेष महत्व है। बहुत सी लोक कथाएं प्रचलित हैं कि छठ-पूजा की विशेष कृपा से निःसंतान को संतान की प्राप्ति होती है।

सम्पूर्ण जगत् सूर्य के प्रकाश से पेड़-पौधों के जीवन-अस्तित्व से रात, धूप दाव, सर्दी, गर्मी आदि सभी सूर्य द्वारा ही संचालित होता है। जिसके कारण सूर्य को आदि देवता भी कहा जाता है।

चूंकि छठ-पूजा या पर्व मनाने के पीछे कुछ पौराणिक कथओं का भी चलन रहा है। जो आगे चलकर लोक-संस्कृति का हिस्सा बन गया। जैसे कि रामायण काल में जब श्रीराम लंका पर फतेह हासिल करके वापस अयोध्या लौटे तो राम ने ‘लोकमंगल’ की कामना एवं रामराज्य की स्थापना के लिए ‘अपनी पत्नी

सीता के साथ व्रत किया और विधिवत् सूर्यदेव की पूजा की। और अगले दिन सूर्योदय के समय सूर्य की पूजा करके इस व्रत का पालन कर सूर्यदेव से आशीर्वाद प्राप्त किया। जिसके फलस्वरूप लोकमंगल कल्याण हेतु इस व्रत का आयोजन और छठ—पूजा के रूप में लोगों में इसका प्रचलन बढ़ा।

इसी प्रकार महाभारत कालीन के अनुसार जब कुंति अविवाहित थी तब एक सूर्य—पूजन का अनुष्ठान किया था जिसके फलस्वरूप उन्हें पुत्र—रत्न की प्राप्ति हुई थी जिन्हें कर्ण के नाम से जाना जाता है। लेकिन लोकलाज के डर से कुंती ने अपने पुत्र को गंगा में बहा दिया था। जो सूर्य के वरदान से प्राप्त हुआ था। कर्ण स्वयं सूर्य के समान धीरे—वीर गम्भीर और तेज एवं बलशाली भी था। जिसके चलते आगामी समय में लोगों ने कर्ण के समान पुत्र प्राप्ति हेतु सूर्य—पूजा और उपासना करने में अपनी दिलचस्पी बढ़ाई।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि प्रत्येक युग था काल—विशेष में कुछ लोक संस्कृतियाँ विशेष वजह से प्रचलन में आई और लोगों ने बड़ी आस्था एवं श्रद्धा के साथ उनको मनाया भी। वही लोक संस्कृति एक परम्परा का रूप लेकर लोक में समय—समय से और अनुसरण में ली जाती रही है।

**जीवन का वास्तविक
सुख, दूसरों के सुख
देने में है, उनका सुख
लूटने में नहीं**

— मुंशी प्रेमचंद

'सुविचार'

**आप जो करते हैं उसका
असर पूरी दूनियां
पर होता है
और जो पूरी दूनियां करती है
उसका असर
आप पर होता है।**

कहानी

भूख

पिंकी सिंह

कॉलेज शिक्षिका, सरोजनी

नाइडू कॉलेज फार विमेन

धन्नो रसोई घर में खाना बनाते—बनाते कुछ गुनगुना रही थी तभी संतोष ने आवाज़ लगाई, “धन्नो पानी ला, प्यास लगी है।” यह सुनते ही उसने गुनगुनाना बंद कर दिया और तेजी से पानी की गिलास लेते हुए संतोष के कमरे की तरफ दौड़ी। पानी की गिलास देते हुए संतोष की उंगलियों के स्पर्श से मानो उसका रोम—रोम पुलकित हो उठा। धन्नो ने आज यह पहली बार अनुभव नहीं किया था बल्कि कुछ दिनों से ही जब भी वह संतोष को देखती या कुछ काम करते हुए उसके करीब होती अचानक न जाने वह किस सुख का अनुशासन कर लिया करती थी।

धन्नो रामदयाल चौधरी के घर की नौकरानी थी। वह उनके घर में उस समय नौकरानी बन कर आई थी जब वह मात्र 8 वर्ष की थी। आज वह पूरे 20 साल की एक जवान लड़की बन चुकी हैं वह देखने में तो सुंदर नहीं कही जा सकती लेकिन उसका शारीरिक गठन किसी भी पुरुष को अपनी ओर आकर्षित कर सकता था। संतोष इन्हीं रामदयाल चौधरी का सबसे छोटा सुपुत्र था। इनकी दो विवाहित बेटियां ज्योति और रानी अपने—अपने ससुराल में खुशहाल जीवन बिता रही थी।

संतोष 24 साल का नौजवान था, जिसके पीछे न जोन कितनी ही लड़कियां दीवानी थी। धन्नो भी कभी—कभी चोरी—चुपके सबकी नज़र बचाकर उसे निहार लिया करती है। धन्नो ने अपना बचपन इसी घर में काटकर जवानी की दहलीज पर कदम रखा था। हर लड़की की तरह उसके भी रंगीन सपने थे। वह कभी जब

काम से थककर अकेले बैठी रहती थी तो अक्सर ही ख्यालों में डूब जाती थी और घंटो ऐसे ही काट दिया करती थी।

वह हमेशा ही इस घर के सदस्यों से सहमी और सकुचाई हुई रहती थी क्योंकि वह कई बार अपनी गलतियों के लिए कभी अपनी मालकिन और कभी उनके बच्चों से पीठ चुकी थी लेकिन कुछ दिनों से संतोष के व्यवहार में अपने लिए सहानुभूति देख कर वह इसका रहस्य न समझ पाई।

उसे शायद ही अपने मालिक के घर में नए कपड़े पहनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ हो, वह हमेशा ही ज्योति और रानी के उतारे कपड़े ही पहनती थी लेकिन आज अचानक ही संतोष उसके लिए नई साड़ी खरीद लाया और इन साड़ियों को देखकर वह बहुत प्रसन्न हो गई लेकिन लेते हुए सकुचा रही थी, तभी संतोष ने उसका हाथ पकड़ कर उसके हाथ में साड़ी थमाते हुए कहा, ‘तू बहत शर्मीली है, भला अपनो से शर्म कैसा?’ यह कहते हुए उसके होठों ने धन्नो के माथे को स्पर्श किया। इस स्पर्श से मानो उसका रोम—रोम पुलकित हो उठा हो। वह प्रतिक्रिया स्वरूप कुछ भी नहीं बोल पाई केवल कुस्कुरा दी।

धन्नो की माँ पैदा होते ही इस दुनिया से चल बसी थी। उसका बाप दिन रात नशे में डूबा रहता था। धन्नो को उसकी नानी ने पाल पोस कर बड़ी किया थी। वह खुद अपना गुजारा बड़ी मुश्किल से करती थी। इसलिए जब धन्नो 8 साल की हुई तब उसकी नानी ने मजबूरी में उसे रामदयाल चौधरी के घर काम

करने के लिए भेज दिया करती थी जिससे वह अपना गुजारा बड़ी मुश्किल से करती थी।

आज संतोष के इस अपनेपन को पाकर उसे ऐसा लगा जैसे वह जिस प्यार की बचपन से हकदार थी वह आज संतोष के रूप में मिल गया।

रामदयाल चौधरी अपनी धर्म पत्नी सुलेखा देवी के साथ कुछ दिनों के लिए गांव गए हुए थे। घर में केवल संतोष और धन्नो ही थे। जाते समय सुलेखा देवी ने उसे चेतावनी देते हुए कहा था, “धन्नो छहोटे मालिक से तेरी शिकायते न सुननी पड़े, उन्हें समय पर खाना खिला देना और एक बता उसे सुबह जल्दी नींद से जगा देना ताकि पिता के न रहने पर वह जल्दी अपने ऑफिस जा सके।” रामदयाल जी एक बड़े व्यवसायी थे। वे देखना चाहते थे कि उनकी गैरमौजूदगी में उनका बेटा कारोबार किस तरह संभालता है। इसलिए उसके कंधों पर जिम्मेदारी थोप कर वे कुछ दिनों आराम करने के लिए गांव चले गए।

धन्नो आजकल बहुत खुश रहने लगी थी। अपने छोटे मालिक की खिरदारी करने में उसे बहुत अपनापन महसूस होने लगा था। उसे ऐसा लगने लगा था जैसे उसने जीवन में सब कुछ पा लिया हो। उसकी सेवा करते—करते वह कब उसके इतने करीब चली गई, उसे पता ही न चला।

एक महीने बाद रामदयाल जी अपनी पत्नी के साथ गांव से वापस लौट आए। इनके लौटने पर भी इन दोनों के रिश्ते पर कुछ भी असर न पड़ा। हर रात सबके सो जाने पर संतोष उसे अपने कमरे में बुला देता या खुद उसके कमरे में चला आता। धन्नो ने भी कभी

नहीं सोचा कि आखिर उसके इस रिश्ते का अंजाम क्या होगा?

एक दिन सुबह जब वह चाय लेकर संतोष के कमरे में गई तो वह बहुत घबराई हुई थी। उसे देखकर संतोष ने उसका हाथ पड़कर अपनी ओर खींच लिया और कहा, ‘तेरे चेहरे का रंग आज उड़ा हुआ क्यों है?’ यह सुनते ही वह रो पड़ी और सिसकते सिसकते कहा, ‘मैं माँ बनने वाली हूँ।’ यह सुनते ही संतोष ने उसे झटक कर जोर से कहा, ‘क्या’

हाँ, मैं सच कह रही हूँ

मतलब?

मतलब यही कि मैं तुम्हारे बच्चे की माँ बनने वाली हूँ।

यह सुनते ही जैसे संतोष के पांव तले जमीन खिसक गई वह बहुत घबरा गया लेकिन अपनी घबराहट को संभालते हुए उसने कहा, चिंता मत कर सब ठीक हो जाएगा।

इस घटना के एक सप्ताह बाद उसने धन्नो का गर्भपात करवा दिया। इसके अलावा धन्नो के पास कोई चारा न था। इस तरह समय बीतता गया और दोनों के रिश्ते भी आगे इसी तरह बढ़ने गये।

धन्नो ने संतोष से कभी भी अपने रिश्ते को नाम देने की बात दूबारा नहीं कही क्योंकि उसे संतोष के रवैए का भली-भांति ज्ञान था। एक बार उसने हिम्मत करके शादी की बात भी की थी लेकिन तभी उसने अपने गालों पर संतोष के तमाचे खाए थे तभी उसे अपनी हैसियत की पता चल गया था लेकिन वह अपना दुखड़ा कहती भी तो किससे? और कौन उसकी बातों का विश्वास करता? संतोष

पैरोक्कर

से रिश्ता रखना अब उसकी मजबूरी बन गई थी।

चार साल तक धन्नो से रिश्ता रखने के बाद संतोष ने अपने ही बिरादरी में धनी परिवार की लड़की से शादी कर ली। अब वह धन्नो की तरफ देखता भी न था। उसका सारा प्यार अपनापन सबकुछ झटके में ही खत्म हो गया क्योंकि संतोष के लिए धन्नो सिर्फ मन बहलाने और शारीरिक जरूरते पूरी करने का साधन थी। वहीं दूसरी तरफ धन्नो ने उसे अपना सबकुछ मान लिया था।

नई बहु रीमा के घर में आने के बाद धन्नो पहले की तरह फिर से उदास रहने लगी थी। वह जब—जब रीमा को देखती उसका मन टीस से भर उठता था। ऐसा लगताथा मानो जैसे रीमा ने उसका सारा सुख चैन उसे जबरदस्ती छीन लिया हो। विवाह के कुछ महीनों बाद जब रीमा अपने मायके चली गई तब फिर से संतोष उसे जबरदस्ती अपने कमरे में बुलाने लगा। पहले वह खुशी—खुशी उसके कमरे में चले जाया करती लेकिन अब मन मारकर उसे जाना पड़ता था। अब जब भी रीमा मायके जाती थी, धन्नो ही उसकी सिर्फ रात की रानी बनती थी और सुबह होते ही नौकरानी।

अंत में जब धन्नो अपनी नानी के घर गई फिर बुलाने पर भी वापस नपहों आई। कुछ महीनों बाद उसने भी शादी कर ली ताकि उसके जीवन का भी कोई सहारा बन सके लेकिन वह संतोष को भूल नहीं पाई क्योंकि वह उसके जीवन का पहला इंसान था जिसने उसके प्रेम की भूख को मिटाया था, भले ही वह संतोष के लिए सिर्फ उसकी जिस्म की भूख थी। इस दुःख को वह अपने साथ लिए विवाह के कुछ महीनों बाद इस संसार से चल बरसी।

कोई भी व्यक्ति

**ऊँचे स्थान पर बैठकर
ऊँचा नहीं हो जाता**

बल्कि

**हमेशा अपने गुणों से
ऊँचा होता है।**

— चाणक्य

किसी को प्यार देना

**सबसे बड़ा उपहार है और
किसी का प्यार पाना
सबसे बड़ा सम्मान है।**

— चाणक्य

‘पैरोकार’ के ‘मीडिया विशेषांक’ का मूल्यांकन

जनसंचार विभाग में स्नातकोत्तर हेतु प्रस्तुत

परियोजना कार्य

सत्र : 2018-20



परियोजना निर्देशक

डॉ. सुनील कुमार
सहायक प्रोफेसर एवं प्रभारी

प्रस्तुकर्ता

रश्मि प्रसाद
एम. ए. जनसंचार
चतुर्थ छमाही

पंजीयन संख्या : 2018/05/109/032

जनसंचार विभाग

क्षेत्रीय केंद्र, कोलकाता

ऐकतान आई. ए. -290, सालट लेक-03 कोलकाता 700097

महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

(संसद द्वारा पारित अधिनियम 1997 क्रमांक 3 के अंतर्गत स्वापित केंद्रीय विश्वविद्यालय)

‘पैरोकार’ पत्रिका के मीडिया विशेषांक पर हुआ शोध कार्य

कोलकाता से प्रकाशित हिंदी साहित्य, शिक्षा, कला व संस्कृति की त्रैमासिक पत्रिका ‘पैरोकार’ के ‘मीडिया विशेषांक’ पर महात्मा गाँधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा के क्षेत्रीय केंद्र, कोलकाता में शोध कार्य किया गया है। केंद्र में जनसंचार की छात्रा रश्मि प्रसाद ने अपने परियोजना कार्य के तहत ‘पैरोकार’ के मीडिया विशेषांक का मूल्यांकन विषय पर अपना शोध कार्य पूरा किया है। कोलकाता केंद्र के प्रभारी एवं सहायक प्रोफेसर डॉ. सुनील कुमार ‘सुमन’ के निर्देशन में यह परियोजना कार्य किया गया है। इसके तहत छात्रा ने ‘पैरोकार’ पत्रिका के ‘मीडिया विशेषांक’ (जनवरी–मार्च 2020) में प्रकाशित आलेखों को केंद्र में रखकर अपने विभिन्न अध्यायों (प्रकाशित आलेखों का विषय वैविध्य, हाशिए का समाज और आज का मीडिया, सोशल मीडिया, पत्रकारीय सरोकार व अन्य प्रकाशित आलेख) में अध्ययन–विवेचन प्रस्तुत किया है। अपने विस्तृत विवेचन के बाद छात्रा ने अपना शोध निष्कर्ष प्रस्तुत किया है। इस परियोजना कार्य में ‘परिषिष्ट’ के अंतर्गत रश्मि प्रसाद ने पत्रिका के प्रधान संपादक एवं वरिष्ठ पत्रकार श्री अनवर हुसैन के इंटरव्यू को भी शामिल किया है। साथ ही पत्रिका से जुड़ी कुछ प्रमुख तस्वीरों को भी दिया गया है।

गीत

—अनवर हुसैन

1

हर वक्त हर घड़ी यूं ही ढूँढती रहूं
जी करता है तुझे देखती रहूं।

मुझे निंद न आए तेरी याद सताए
कभी ख्वाब दिखाए सारी रात जगाए
करवट बदल बदल कर मैं जागती रहूं
जी करता है तुझे देखती रहूं।

तुझे देखूं तो दिल बहक बहक जाए
ना देखूं तो मन तड़प तड़प जाए
प्यार की आग में यूं ही जलती रहूं
जी करता है तुझे देखती रहूं।

ये कैसी बेकरारी है, प्यारी की खुमारी है
हुस्न का तकाजा है, उलफत की रवानी है
हसरत है कि साजन की बाहों में पिघलती
रहूं
जी करता है तुझे देखती रहूं

हर वक्त हर घड़ी यूं ही ढूँढती रहूं
जी करता है तुझे देखती रहूं

2

प्या तो कभी—कभी खामोश होता है
दिल चूर होता है तो कभी मदहोश होता है
प्यार तो कभी—कभी खामोश होता है
दिल चूर होता है तो कभी मदहोश होता है

झुकी—झुकी तेरी पलकें
जुल्फ लहराए महक महक के
आशिक यूं ही नहीं सरफरोश होता है
दिल चूर होता है तो कभी मदहोश होता है

तूने हाथ मेरा छोड़ा
दिल भी ऐसा तोड़ा
क्यूं मन मेरा बोहोश होता है
दिल चूर होता है तो कभी मदहोश होता है

3

प्यार की नाव चले चांद के पार चले
चलें हम यार चलें झील के पार चलें
चलें हम क्यूं न चलें नाव झूम झूम के चलें
पानी इस झील के हम यूं ही चूम चूम के चलें

चलें हम यूं ही चलें मस्त हवाओं के तले
प्यार के झरने बहें खिजा में भी फूल खिलें
प्यार की नाव चले चांद के पार चले
चलें हम यार चलें झील के पार चले

पलकें जो उठे तेरी तो झील में कंवल खिल जाए

लहराए जुल्फ तो घटा ये काली पिघल जाए
चलें साथ साथ चलें दिल के आर—पार चलें
चलें हम यार चलें झील के पार चलें

छोटी—छोटी लहरों की यहां बड़ी—बड़ी
हलचल

ऐसे ही ठंड पानी में भींगे मेरा तनमन
जैसे ये नाव चले करके हम प्यार चलें
चलें हम यार चलें झील के पार चलें

आकाश छूने को लहरों ने ली अंगड़ाई
दिल के दरिया में ये कैसी रंगत छाई

जोश भर के चलें भंवर के पार चलें
चलें हम यार चलें झील के पार चलें

कारे—कारे बदरा की काली ये परछाइयां
ओढ़ा रही है हमें प्यार की चदरियां
हम कदम बढ़ा के चलें हद से पार चलें
चलें हम यार चलें झील के पार चलें

4

क्या करती हो सनम तुम दूर—दूर रहके
छा जाओ मेरी जिंदगी में नूर—नूर बनके

इतना न तड़पाओ सनम पास आ जाओ सनम
दिल कहीं बहक न जाए मान भी जाओ सनम
मदहोश मुझे कर दो प्यार का शुरूर बनके
छा जाओ मेरी जिंदगी में नूर—नूर बनके

इतना न घबराओ सनम, दिल को समझाओ
सजन
ओ मेरे रुठे सजन मान भी जाओ सनम
इतना भी न तड़पो तुम मेरे हुजूर बनके
पास आ जाऊंगी मैं दूर—दूर चलके

अब तो आ जाओ सनम, इतना तो कर दो
करम
रहे न कोई भरम प्यार का यह पहला कदम
गले लग जाओ मेरे दिल अपना गुरुर करके
छा जाओ मेरी जिंदगी में नूर—नूर बनके

मैं आ जाऊंगी सनम आ भी जाऊंगी सजन
अब न कोई शरम मेरे नयनों की कसम
गले में डाल दूं बाहें तेरी दुल्हन जरूर बनके

दिल के आंगन में उतर जाऊं मैं हूर—हूर
बनके

क्या करती हो सनम तुम दूर—दूर रहके
छा जाओ मेरी जिंदगी में नूर—नूर बनके
पास आ जाऊंगी मैं दूर—दूर चलके
छा जाऊंगी तेरी जिंदगी में नूर—नूर बनके

5

ऐसे धड़कता है दिल
कि अब जीना हुआ मुश्किल
फड़कती हैं आखें
मचलती हैं बाहें
क्यूं बहकता है मन
ओ सनम, ओ सनम, ओ सनम

होठों पे महकती है गर्म सांसें
लब पे आती है तेरी ही बातें
जैसे कोई छेड़ता हो न नगमें
क्यूं निहारते रहते हैं तेरे नयन
ओ सजन, ओ सजन, ओ सजन

हां सनम, हां सनम, हां सनम
सुनो दिल की धड़कन ओ मेरे हमदम
हां सजन, हां सजन, हां सजन
सुनूं दिल की धड़कन ओ मेरे सनम
ओ सनम, ओ सनम, ओ सनम
ओ सजन, ओ सजन, ओ सजन

पैरोकार

| | |
|--|--|
| Back Cover : 50,000/- (Colour) | Central Page Both Side : 1,00000/- (4 Page Colour) |
| Back Cover Inside : 35,000/- (Colour) | Central Page Front : 60,000/- (2 Page Colour) |
| Front Cover Inside : 40,000/- (Colour) | Central Page Back : 40,000/- (2 Page Colour) |
| Inside Full Page Colour : 20,000/- | Inside Full Page Black White : 15,000/- |
| Half Page Black & White : 10,000/- | Quater Page Black & White : 5, 000/- |

साहित्यिक आन्दोलन में भागीदार होने को पैरोकार का आह्वान

औद्योगीकरण के मरीनी युग को बहुत पीछे छोड़कर आज हम डिजीटल युग के पायदान पर खड़े हैं, जहाँ शब्द, विचार और विवेक के लिए खतरा पैदा हो गया है। ऐसे में व्यक्तिगत प्रयास व सीमित साधन में वैचारिक मंच तैयार करने के उद्देश्य से 'पैरोकार' का प्रकाशन किसी बड़े खतरे से जूझने से कम नहीं है। लेकिन पत्रिका के हर नए अंक के प्रति पाठकों ने जो उत्साह दिखाया उससे हमें ताकत मिली है और अब हम खतरे से जूझने में अकेला महसूस नहीं करते हैं। हम और मजबूती के साथ उभरे हैं। डिजीटल युग में शब्द के अस्तित्व को लेकर एक तरह से संकट पैदा हो गया है। लेकिन शब्द का आज भी मूल्य है और इस मूल्य को बचाये रखने के लिए पैरोकार साहित्यिक आन्दोलन का आह्वान करता है जिसमें आप सबकी भागीदारी अहम है। साहित्य की विभिन्न विधाओं को नये कलेवर में पाठकों के समक्ष लाने के लिए पैरोकार दृढ़ प्रतिज्ञ है। लेकिन बिना आपके सहयोग के यह सम्भव नहीं है। रचनात्मक आन्दोलन को तेजधार देने के लिए आप लोगों का आर्थिक सहयोग अपेक्षित है। पैरोकार के इस साहित्यिक आन्दोलन को आगे बढ़ने के लिए हम आप से मात्र 400 रुपये की वार्षिक सदस्यता लेने की अपील करते हैं। एक वर्ष में आपको पैरोकार की चार प्रतियाँ मिलेगी जिसमें सामान्य मूल्य से अधिक कीमत पर कई संग्रहणीय विशेषांक शामिल होंगे। आशा है कि आप पैरोकार का वार्षिक सदस्यता ग्रहण करेंगे और अपने परिचितों को भी सदस्य बनाकर इस साहित्यिक और रचनात्मक आन्दोलन में समान रूप से सहभागी होंगे।

- संपादक

पैरोकार सदस्यता फॉर्म

मैं.....
पता.....
पिनकोड.....मो.....ई.मेल

पैरोकार की वार्षिक सदस्यता के रूप में 400, त्रिवार्षीकी 1000, विशेष सहयोग 2000 रुपये नगद / चेक / ऑन लाइन भुगतान कर रहा हूँ। संस्थाओं के लिए 500 रुपये वार्षिक।

A/c. Details for Payment of Advertismet and Subscription.

Axis Bank
Dunlop, Kolkata (W.B) Branch
A/c Name : Pairokar
A/c No. 913020025478023
IFSC : UTIB0000236